बिहारवासियों का जीवन और उनकी चिन्ता-धारा

डा० कालिकिंकर दत्त

बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

बिहारवासियों का
जोवन और उनकी चिन्ताधारा

बिहारवासियों का जीवन और उनकी चिन्ता-धारा

लेखक
डा० कालिकिंकर दत्त
एम० ए०, पी-एच० डी०, पी० आर० एस०
कुलपति
पटना विश्वविद्यालय

बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
पटना-३

प्रस्तावना

शिक्षा-सम्बन्धी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रन्थों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रन्थों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारों के माध्यम से शत प्रतिशत अनुदान देकर तथा अंशत: केन्द्रीय अभिकरण के द्वारा करा रही है। प्रत्येक हिन्दी-भाषी राज्य में इस योजना के परिचालन के लिए राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकाय की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अन्तर्गत प्रकाश्य ग्रन्थों में यथासम्भव भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

'बिहारवासियों का जीवन और उनकी चिन्ताधारा' नामक मौलिक पुस्तक बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। इसके लेखक इतिहास-पुरातत्त्व के सुप्रसिद्ध विद्वान् और पटना विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० कालिकिंकर दत्त हैं।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रन्थों के प्रकाशन सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

—*लक्ष्मीनारायण सुधांशु*
अध्यक्ष
बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी.

पटना
दिनांक २३ सितम्बर '७०

प्राक्कथन

इस पुस्तिका में मेरे दो व्याख्यान संकलित हैं। ये व्याख्यान मैंने जनवरी, १९६३ ई० में, पूज्य स्वामी रंगनाथानन्द जी के आमंत्रण पर रामकृष्ण इंस्टीच्यूट ऑफ कल्चर, कलकत्ता, में दिए थे। स्वामी जी के कृपापूर्ण आमंत्रण के लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

इन व्याख्यानों में मैंने, अपने ढंग से, सामान्य पाठकों के लिए, इतिहास-क्रम से बिहारवासियों के धार्मिक और सांस्कृतिक चिन्तन तथा उनकी कला और सामाजिक जीवन का संक्षिप्त परिचय देने की चेष्टा की है, क्योंकि मैं यह महसूस करता हूँ कि अपने इस महान् देश के प्रत्येक नागरिक को इस ऐतिहासिक महत्त्व वाले प्रान्त की सभ्यता का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

इन व्याख्यानों को तैयार करने के सिलसिले में मेरे शिष्य एवं सहयोगी, डॉ० भक्त प्रसाद मजुमदार, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, इतिहास-विभाग, पटना विश्वविद्यालय, ने यदा-कदा अपने सुझाव देकर मेरी जो सहायता की है, उसके लिए मैं इनका आभारी हूँ।

अन्त में मैं श्री के० सी० बनर्जी एवं पटना विश्वविद्यालय के श्री चन्द्रमौलि को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होने मेरे व्याख्यान को हिन्दी में प्रस्तुत करने में मेरी मदद की है।

पटना विश्वविद्यालय
दिनांक २१.९.७०

—*कालिकिंकर दत्त*

बिहारवासियों का जीवन और उनकी चिन्ताधारा

प्राचीन काल में बिहार के मुख्य भाग मगध, अंग, वैशाली और मिथिला थे और विभिन्न युगों में भारतीय सभ्यता के विकास में इन सभी क्षेत्रों का विशेष तथा उल्लेखनीय योगदान रहा है। श्रुति तथा किंवदन्ती के आधार पर हमें यह मालूम है कि महाभारत-युद्ध के समय बिहार में दो मुख्य राज्य थे— मगध और विदेह। मगध दक्खिन बिहार के पटना तथा गया जिलों में फैला हुआ था और विदेह, सम्भवतः उत्तर बिहार के प्राचीन वैशाली राज्य के क्षेत्र में अवस्थित था। बहुत दिनों तक मगध आर्यावर्त्त के बाहर था और शायद अनार्य किकत जाति के लोगों का आवास-स्थल रहा। यहाँ तक कि ईसा-पूर्व छठी शताब्दी में भी बौद्धायन ने मगध के विवरण में लिखा है कि वहाँ के अधिवासियों पर आर्यों का प्रभाव नहीं पड़ा था। उसी समय के विवरण में यह भी स्वीकार किया गया है कि गंगा के उस पार तिरहुत में पूर्णरूपेण आर्यत्व प्रतिष्ठित था।

महाभारत तथा पुराणों के अनुसार मगध का सर्वप्रथम राजवंश जरासंध के पिता वृहद्रथ से आरम्भ होता है। ईसा के पूर्व छठी सदी में वृहद्रथ-वंश के राजाओं को परास्त कर एक नये राजवंश की प्रतिष्ठा हुई। यह भारत के धार्मिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में एक उल्लेखनीय समय था। नये राजवंश का नाम, पुराणों के अनुसार, शैशुनाग था, जो पौराणिक सूची में इस वंश के प्रथम राजा, शिशुनाग के नाम पर आधारित है। परन्तु बौद्धों के विवरण में, शैशुनाग वंश बाद में हुआ और इसके पूर्व हर्यक वंश के नृपतियों का उल्लेख है तथा शिशुनाग को उसके परवर्ती काल में स्थान दिया गया है। इस दूसरी शाखा में शिशुनाग, उनके पुत्र तथा उनके पौत्रों का उल्लेख है।

हर्यक वंश के सबसे शक्तिशाली राजा का नाम श्रेणिक या बिम्बिसार था। बिम्बिसार ने पूर्वी बिहार के अंगराज्य पर, जो मगध का पार्श्ववर्त्ती राज्य था, अधिकार कर लिया था। अंग राज्य की राजधानी भागलपुर के समीपस्थ चम्पा में थी। वास्तव में बिम्बिसार ने मगध राज्य को एक साम्राज्य का गौरव प्रदान किया था। उसका सुप्रतिष्ठित राज्य चारों ओर से नदियों तथा पर्वतों से सुरक्षित था। उसकी राजधानी गिरिव्रज (राजगृह या वर्त्तमान राजगीर) पाँच गिरियों से घिरी हुई तो थी ही, उसके अतिरिक्त एक विशाल

तथा दृढ़ पत्थर की दीवार से परिवेष्टित थी। यह दीवार भारत के सबसे पुराने पत्थर से निर्मित स्थापत्य का निदर्शन है।

राजगृह भारत का एक सुन्दर, दर्शनीय स्थान है जो प्राकृतिक सौंदर्य की सम्पदा से चित्र की भाँति शोभा-सम्पन्न है। प्राकृतिक सौंदर्य के अतिरिक्त यह स्थान ऐतिहासिक तथ्यों तथा प्राचीन स्थापत्य और कला के नमूनों का आधार-स्वरूप है। इन ऐतिहासिक तथा पुरातत्व के केन्द्रों में उस पत्थर की दीवार के अतिरिक्त, जो कि नगर के चारों ओर निर्मित थी, निम्नलिखित दर्शनीय स्थान हैं,—वेणुवन, मनियार मठ, पिप्पल नामक पत्थर का महल या पहरा देने का भवन—जिसे स्थानीय लोग मचान भी कहते हैं। साथ ही, वैभारगिरि के दक्खिनी छोर पर की सोनभद्र गुफा, पिप्पल भवन के समीप जरासंध की बैठक, वैभार-गिरि की पूर्वी ढाल पर पत्थरों से निर्मित स्थान, जो उष्ण प्रस्रवणों (गरम पानी के झरनों) से थोड़ी दूर ऊँचाई पर अवस्थित है और सप्तपर्णी गुफा, जिसमें पहली बौद्ध-सभा का अधिवेशन हुआ था और जिसे ऐतिहासिक तथा पुरातत्वविद् स्टेन ने उन सात गुफाओं के अन्तर्गत बताया है जो आदिनाथ के विशाल जैन मन्दिर के नीचे वैभारगिरि की पथरीली ढाल पर अवस्थित हैं, भी देखने योग्य हैं।

बिम्बिसार के पुत्र तथा उत्तराधिकारी अजातशत्रु के समय मगध राज्य का विस्तार हुआ। उसने मगध राज्य के उत्तर के तथा उत्तर-पूर्व के प्रजातंत्रों की प्रतिद्वन्द्विता तथा राज्य-विस्तार की आशा पर पानी फेर दिया और उनके शस्त्रास्त्रों का नाश कर दिया। वैशाली के वृज्जियों के आक्रमणों के प्रतिरोध के लिए उसने गंगा और सोन के संगम पर अवस्थित पाटलिग्राम को सुरक्षित तथा किलों से सुसज्जित किया। यही पाटलिग्राम आगे चलकर इतिहास प्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर बना जो सदियों तक भारत की राजधानी बना रहा।

वृज्जी राज्य कई जातियों का एक संघ था, जिनमें लिच्छवी और ज्ञातृका लोग भी सम्मिलित थे। इसकी राजधानी इतिहास-प्रसिद्ध वैशाली में थी जो वर्त्तमान समय के मुजफ्फरपुर जिले के अन्तर्गत बसाढ़ के समीप अव-स्थित थी। वृज्जियों ने एक गणतांत्रिक शासन-व्यवस्था कायम की थी जो एक गण परिषद् तथा अधिष्ठान के सदस्यों द्वारा परिचालित होती थी।

शैशुनाग-वंश के बाद नन्द-वंश का प्रादुर्भाव हुआ। नन्द-वंश ने बड़ी दूर तक अपना राज्य विस्तार किया। परन्तु मौर्य-वंश के शासन-काल में मगध अपने गौरव और अपनी महानता के शिखर पर आरूढ़ हुआ। चन्द्रगुप्त तथा अशोक जैसे महान् मौर्य-शासकों ने राज्य-विस्तार के साथ-साथ एक ऐसे जन-हितैषी राज्य (साम्राज्य) की स्थापना की, सुचारु रूप से शासन की एक ऐसी प्रणाली

कायम की, जो जीवन के हर पहलू में प्रजा के लिए परम हितकारी और सुखदायक थी। मौर्य-साम्राज्य के अवसान के साथ ही भारत की राष्ट्रीय एकता की भावना भी लुप्त हो गयी। मगध तथा उसके आस-पास के प्रान्तों में मौर्यों के बाद शुंगों ने राज्य-स्थापना की और उनके बाद ईसा से पूर्व सन् ७५ ई० में कण्ववंश का राज्य हुआ, परन्तु दक्षिण के सातवाहनों ने कण्वराज्य के अन्तिम शासक को परास्त कर अपने राज्य की स्थापना की।

मगध की प्रधानता और उसके गौरव की पुनः प्रतिष्ठा गुप्त सम्राटों के शासन-काल में हुई, जिनमें सर्वश्रेष्ठ समुद्रगुप्त थे जिन्होंने समर-क्षेत्र में गौरव-प्राप्ति के अतिरिक्त अपने व्यक्तिगत गुणों तथा गुणग्राहिता के कारण विशेष ख्याति प्राप्त की। समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय, जिन्हें विक्रमादित्य भी कहते हैं, एक इतिहास-प्रसिद्ध सम्राट थे जिनके समय में चीन देश के परिव्राजक फाहियान ने भारत में आकर मध्यदेश की शासन-प्रणाली, पाटलिपुत्र में सम्राट के विशाल तथा भव्य भवन और उन स्थानों की—जहाँ गरीबों को दान दिए जाते थे और दवाएँ बाँटी जाती थीं—बहुत प्रशंसा की है।

गुप्त साम्राज्य की राजशक्ति के ह्रास के साथ ही बिहार की स्वाधीनता जाती रही और पाटलिपुत्र भी भारत का केन्द्रीय नगर नहीं रहा। जिस समय हिउ-एन-सांग (ह्वेनसांग) भारत-भ्रमण करने आया (सातवीं सदी के मध्य भाग में) उस समय पाटलिपुत्र पहले की तुलना में जन-शून्य-सा हो गया था। परन्तु पालवंश के अभ्युदय के साथ पाटलिपुत्र को अपना पूर्व गौरव प्राप्त हुआ। पालवंश के राजाओं के आदेश पाटलिपुत्र से ही प्रसारित होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि बारहवीं सदी के प्रथम भाग में—मदनपाल के राज्यकाल में—बिहार से बंगाल अलग हो गया था क्योंकि बंगाल में सेन-वंश के शासकों का अभ्युदय हुआ था जो पहले पाल राजाओं के ही सामन्त थे। विजयसेन ने मदनपाल को उत्तर बंगाल से निकाल देने के बाद (१०९७-११५० ई० के लगभग) मिथिला के कर्णा तक नयनदेव से युद्ध छेड़ दिया, जिन्होंने सम्भवतः महीपाल के समय में पाल राजाओं से बंगाल जीत लिया था। बारहवीं सदी में सेनवंश के राजाओं ने मिथिला पर तो विजय प्राप्त कर ही ली थी, इसके अतिरिक्त वे आगे पश्चिम की ओर राज्य-विस्तार करने लगे थे। पालराज्य इस समय केवल पटना और मुंगेर जिलों में ही सीमित था। लगभग सन् ११६० ई० में गया के शासक थे गोविन्दपाल जिन्होंने शायद सेन राजाओं से युद्ध छेड़ा था। लक्खीसराय के समीप जयनगर में प्राप्त एक शिलालेख में, जिस पर पाल की चर्चा है, वे शायद मदनपाल गोविन्दपाल के उत्तराधिकारी थे, परन्तु बहुतेरे

इतिहासवेत्ताओं ने इनके अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया है। पूरब से सेन राजाओं का आगमन हुआ तो पश्चिम से गहड़वालों का। सन् ११२४ ई० में गोविन्दचन्द्र ने बिहार में मनेर तक प्रवेश किया और सन् ११४६ में वे मुंगेर तक पहुँच गए। ११६९ ई० में विजयचन्द्र ने शाहाबाद पर दखल जमा लिया और जयचन्द्र ने सन् ११७५ ई० में पटना और सन् ११८३ ई० से ११९२ ई० में गया को अपने राज्य में मिला लिया। दोनों दिशाओं से आक्रमण के फलस्वरूप पाल राज्य का अन्त हुआ।

लक्ष्मण सेन ने गहड़वालों को मगध से तो हटा ही दिया, साथ ही वाराणसी और इलाहाबाद पर भी धावा बोल दिया। बारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में बिहार में कोई भी उल्लेखनीय शासक नहीं था।

मध्यकाल में भी शेरशाह के सुशासन के समय सारे उत्तर भारत पर बिहार का राजनैतिक प्रभाव था। शेरशाह की उदार शासन-प्रणाली में कुछ ऐसे तथ्य थे जिन्हें महान् मुगल-शासक अकबर ने अपनाया। अकबर ने बंगाल और बिहार को सन् १५७५-७६ ई० में अपने साम्राज्य के अधीन कर लिया। सन् १७३३ ई० में बिहार को बंगाल सूबे का एक हिस्सा मान लिया गया था। उसके बाद, अट्ठारहवीं सदी के मध्य भाग की राजनैतिक क्रान्तियों से बिहार का इतिहास प्रभावित हुआ और हमारे सारे देश के इतिहास की धारा बदलने लगी।

बिहार की संस्कृति महान्, समृद्ध तथा प्रेरणापूर्ण रही है। प्राचीन काल से ही यहाँ मानव की आत्मा तथा मानव का मानस, शतदल की भाँति अनगिनत सुन्दर पंखुड़ियों में विकसित हुआ जिससे भारत की महान् संस्कृति समृद्ध हुई। भारतीय दर्शनशास्त्र के उच्चकोटि के चिन्तन का प्रारंभ राजा जनक की सभा की शोभावर्द्धक तथा उज्ज्वल ताराओं के समान पंडित-मंडली द्वारा ही हुआ था। बिहार में ही ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में धर्मसुधार की उन भाव-धाराओं के महान् स्रोत प्रवाहित हुए थे जिन्हें महावीर तथा गौतम जैसे धर्मप्रचारकों ने सारे विश्व में साम्य, मैत्री, प्रेम, सेवा, सहिष्णुता और अहिंसा के रूप में प्रवाहित किया था। महावीर का जन्म उत्तर बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के वैशाली अंचल के कुन्दपुर में हुआ था। बिहार ही उनके धर्म-प्रचार का एक मुख्य केन्द्र था और अन्त में उन्होंने पटने जिले के बिहारशरीफ के समीप पावा-पुरी में निर्वाण प्राप्त किया था। यह सर्वविदित है कि छह वर्षों तक विभिन्न स्थानों में परिव्रज्या (भ्रमण) करने के बाद और राजगृह (वर्त्तमान राजगीर) तथा गया के समीपवर्त्ती ऊरुविला में कठोर तपस्या करने के बाद गौतम

सिद्धार्थ ने निरंजना (वर्त्तमान लीलाजन) नदी में पुण्य-स्नान के अनन्तर बोधगया में बोधि-वृक्ष के नीचे ध्यान आरम्भ किया था। यहीं पर उन्होंने वैशाख पूर्णिमा की पुण्य-तिथि को अन्तर्दृष्टि तथा दिव्य ज्ञान प्राप्त किया और वे बुद्ध या दिव्य ज्ञानी और तथागत अर्थात् सत्य को जानने वाले कहलाने लगे।

प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनी और पतंजलि, जिनका संस्कृत भाषा और साहित्य पर अमिट प्रभाव है तथा 'पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है', इस सिद्धान्त के प्रथम आविष्कारक महान् ज्योतिषी आर्यभट्ट इतिहास-प्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे।

जगद्विख्यात राजनीति-विशारद तथा अभिनव और सुचिंतित कौटिल्य-शास्त्र (जो सारे विश्व में राजनीतिशास्त्र तथा साहित्य का बेजोड़ तथा प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है) के रचयिता कौटिल्य का मगध के प्राचीन इतिहास तथा राजनीति पर अमिट प्रभाव था। उन्होंने राजनैतिक क्रांति द्वारा नन्दवंश के स्थान पर मगध के राजसिंहासन पर मौर्य शासकों को प्रतिष्ठित तो किया ही था, साथ ही मौर्य सम्राट् के शासन को सुदृढ़ और सुयोग्य बना कर उनकी राजधानी पाटलिपुत्र में उन्हें सुप्रतिष्ठित किया था।

इसी मगध और इसी पाटलिपुत्र से धर्मप्रचारक सम्राट् अशोक अपने उपदेश प्रसारित किया करते थे जो उनके साम्राज्य के विभिन्न स्थानों में शिलालेख के रूप में स्तम्भों पर उत्कीर्ण किये जाते थे। इन लिपियों की महानता का तथ्य यह है कि इनमें विश्वप्रेम तथा सहिष्णुता और आन्तरिक शान्ति तथा विश्वशान्ति की भावनाएँ भरी हुई हैं। अशोक का धर्म, जो अहिंसा तथा मनुष्य एवं पशुओं के लिए सद्भावना की व्यवस्था पर आधारित था, सहज ही में प्रचारित हुआ जैसा कि सम्राट अशोक ने स्वयं कहा है। यह धर्म न केवल सारे भारत में ही बल्कि ग्रीक (यूनान) राज्यों में तथा समीपवर्ती तमिल एवं सिंहल देशों में भी फैल गया। इस प्रकार भारत ने पश्चिम एशिया तथा अन्य दूर देशों में आध्यात्मिक विजय प्राप्त की।

जिस प्रकार एथेंस सारे यूनान का शिक्षाकेन्द्र था उसी प्रकार बिहार भी प्राचीन काल में कई सदियों तक सारे एशिया का शिक्षाकेन्द्र रहा। यहाँ नालन्दा, विक्रमशिला (जिसे कि कहलगाँव के समीपस्थ पाथरघाटा भी माना जाता है), व्रज्रासन (बोधगया) तथा ओदंतपुरी (बिहारशरीफ) जैसे महान् विश्वविद्यालय सुप्रतिष्ठित थे। सभी लोगों के लिए तथा सभी राष्ट्रों के लिए प्रतिष्ठित विद्या-केन्द्र होने के कारण [illegible]

देशों तथा विश्व के कोने-कोने से, विभिन्न विषयों में विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए, विद्यार्थी आते थे।

नालन्दा विश्वविद्यालय धार्मिक तथा दार्शनिक शिक्षा का केन्द्र तो था ही, इसके अतिरिक्त यहाँ कला-कौशल की भी शिक्षा की व्यवस्था थी। इस महान् विश्वविद्यालय के बारे में तत्कालीन दो विद्वानों के विवरण प्राप्त हैं—एक तो चीन देश के प्रमुख विधिज्ञ विद्वान ह्यु-एन-सांग का और दूसरा चीनी परिव्राजक ई-सिं का। ह्यु-एन-सांग ने ६३५ ई० से ६४० ई० तक अर्थात् पाँच वर्षों तक नालन्दा विश्वविद्यालय में रहकर ज्ञान प्राप्त किया था। ई-सिं ने सन् ६७५ ई० से लगातार दस वर्षों तक नालन्दा में विद्या प्राप्त की थी। ई-सिं के बाद और भी बहुत से चीनी विद्यार्थी आए, परन्तु ई-सिं के विवरण में कुछ अन्य विदेशी छात्रों की चर्चा है जो उनके समसामयिक थे। एशिया के इस विश्व-विख्यात उच्च कोटि के ज्ञानप्रद तथा शोध-कार्य के केन्द्र की शिक्षा का स्तर बहुत ही उच्च था और इस विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के लिए विद्यार्थी को कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ता था। अतः, केवल उच्च कोटि के विद्वान ही विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए यहाँ सम्मिलित होते थे। ह्यु-एन-सांग ने लिखा है—"इस विद्यामन्दिर में हजारों विद्वान थे जिनकी विद्वत्ता और योग्यता बहुत ही उच्चकोटि की थी। इन्हें सारे भारत में आदर्श माना जाता था। विदेशी छात्र यहाँ अपनी शंकाओं का समाधान करने आते थे और गौरव तथा ख्याति प्राप्त करते थे।" ई-सिं ने भी हमें बताया है, "ख्यातिप्राप्त तथा प्रतिष्ठित विद्वानों की यहाँ भीड़-सी लगी रहती थी और वे सम्भव तथा असम्भव तथ्यों पर विचार किया करते थे और अन्त में ज्ञानियों द्वारा अपने विचारों की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में निश्चिन्त होने के बाद अपने ज्ञान की दीप्ति से संसार में यश प्राप्त करते थे।" वस्तुतः नालन्दा विश्वविद्यालय का छात्र होना ही उच्चकोटि के ज्ञान का द्योतक माना जाता था। ह्यु-एन-सांग ने कहा है, "यदि लोग नालन्दा के भ्रातृ-समाज (छात्रवृन्द) में सम्मिलित रहने का मिथ्या प्रमाण भी जुटा लेते थे तो उन्हें सभी स्थानों में सहज ही सम्मान प्राप्त हो जाता था।" एक बहुत ही उच्चकोटि के आवासीय विश्वविद्यालय के रूप में नालन्दा की एक उल्लेखनीय देन यह थी कि वहाँ "विद्यार्थी एक दूसरे के निर्माण में सहायता करते थे और इस प्रकार जीवन की सबसे आदर्श कला में—अर्थात्—बुद्धि की दीप्ति से जाग्रत एक विद्वज्जन समाज के निर्माण में पारस्परिक सहायता करते थे।"

यह भी विशेष रूप से उल्लेखनीय तथा अर्थपूर्ण है कि इन उच्च कोटि

के ज्ञानप्राप्ति के केन्द्रों से ऐसी महान तथा विशाल भाव-धाराएँ प्रवाहित हुईं जिनका भारत तथा अन्य देशों के मानव-मानस पर श्रेष्ठ प्रभाव पड़ा। नालन्दा तथा विक्रमशिला से भारत के बाहर दूर-दूर के देशों में ऐसे मूर्धन्य विद्वान भेजे जाते थे जो अपनी विद्या के क्षेत्र में पारंगत तो थे ही, इसके अतिरिक्त संस्कृत, पाली, तिब्बती तथा चीनी आदि भाषाओं की पूरी जानकारी रखते थे तथा दूर देशों में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के अग्रदूत का कार्य करते थे। इन्हीं मनीषियों के प्रयत्नों से भारत की सीमा से बाहर विशाल भारत के आध्यात्मिक साम्राज्य की प्रतिष्ठा हुई जो देश तथा काल की सीमाओं से सीमित नहीं था और जिस साम्राज्य की नींव भ्रातृत्व के पवित्र सम्बन्ध पर थी न कि अन्य साम्राज्यों की भाँति बल तथा हिंसा पर। इन विद्वान धर्म-प्रचारकों में उल्लेखनीय हैं—शांतरक्षित (लगभग ७४८ ई०), पद्मसम्भव (जो तिब्बत देश में ७४७ ई० में गये थे), इन्हीं के साथी कमलशील, स्थिरमति तथा बुद्धकीर्ति। अतिश दीपंकर विक्रमशिला से तिब्बत गए थे और आज तक वहाँ के लोग उनके प्रति अटूट भक्ति निवेदन करते हैं। नालन्दा विश्वविद्यालय के छात्रों में—जिन्होंने चीन देश में सांस्कृतिक सेवा की—निम्नलिखित व्यक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—कुमारजीव (पाँचवीं सदी), परमार्थ (छठी शताब्दी) जिन्होंने वसुबन्धु की जीवनी का अनुवाद किया, शुभाकर सिंह (आठवीं सदी) तथा धर्मदेव जिन्होंने चालीस वर्षों तक (सन् ८६० ई० से से १००० ई० तक) बौद्ध धर्म सम्बन्धी अठ्ठारह ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

भारत के भाग्य में कुछ विपरीत राजनैतिक घटनाओं के संघात से ये विद्या तथा ज्ञान के केन्द्र धीरे-धीरे लुप्त हो गए। फिर भी ये हमारे लिए महान् प्रेरणा तथा उत्साह के आधार रहे हैं और अनन्त काल तक रहेंगे।

बिहार में गंगा के उत्तर का विदेह नामक प्रान्त इतिहास के ऊषाकाल से ही ज्ञान तथा संस्कृति का केन्द्र रहा है। वेद के 'शतपथ ब्राह्मण'' में आर्यों द्वारा इस भूमि में आगमन तथा निवास का विवरण है। परवर्त्ती काल में विदेह में एक शक्तिशाली राजवंश की प्रतिष्ठा हुई जिसके सम्बन्ध में कुछ रोचक उपाख्यान हमें अपने महान् पुराणों से प्राप्त होते हैं जिनमें विदेह राज की पुत्री वैदेही का रामचन्द्र से विवाह विशेष रूप से जनप्रिय है। उपनिषद्-काल में विदेह ब्राह्मण-धर्म तथा ज्ञान का एक महान् केन्द्र था। विदेह के राजा जनक, जिनकी छत्र-छाया में याज्ञवल्क्य ने प्रसिद्धि प्राप्त की थी, सम्राट की उपाधि से विभूषित थे और उनकी राजसभा में कुरु पांचाल देशों के श्रेष्ठ विद्वानों का जमघट रहता

था। परन्तु बौद्धधर्म के अभ्युदय के कुछ काल पूर्व से ही विदेह राज्य का पतन हुआ और उसके बाद प्रसिद्ध वृज्ज गणतंत्र की प्रतिष्ठा वैशाली में हुई। मगधराज अजातशत्रु ने लिच्छवियों को परास्त तो किया परन्तु लिच्छवियों का प्रभाव लुप्त नहीं हुआ था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मगध के गुप्तवंश से लिच्छवियों के वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होने के कारण विदेह—जो कि उस समय "तीर भुक्ति" के नाम से प्रसिद्ध था—गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत हो चुका था। यह देश सम्राट् हर्षवर्द्धन के सम्राज्य के अन्तर्गत था तथा रामपाल के राज्यकाल तक पालवंश के राज्य के अधीन था। पालवंश के पतन के साथ-साथ कर्णाटक के एक राजकुमार ने यहाँ आकर एक नये तथा स्वतंत्र राजवंश की स्थापना की। इस राजवंश के शासन-काल में सांस्कृतिक प्रगति का एक नवीन तथा उज्ज्वल स्रोत प्रवाहित हुआ।

चौदहवीं सदी में तिरहुत पर मुसलमानों के अधिकार जमा लेने के बाद फिरोज तुगलक ने यहाँ एक नये राजवंश का शासन आरम्भ किया जिसे वैनवार-वंश कहा जाता है। वैनवार-वंश के दो सौ तीन वर्षों के शासनकाल में कई एक प्रसिद्ध शासक हुए जिनमें शिवसिंह एक थे। इन्हीं की छत्रछाया में अमर कवि विद्यापति ने अपने सुललित काव्य की रचना की थी। उस काल में, जब तुर्क-अफगान साम्राज्य का क्रमशः पतन हो रहा था तथा उन दिनों में, जब भारत पर अधिकार जमाने के लिए मुगलों और अफगानों में युद्ध छिड़ा रहता था, मिथिला में अराजकता का अंधकार छाया हुआ था। १५५६-५७ में अकबर ने महेश ठाकुर की विद्वत्ता के पुरस्कार में उन्हें मिथिला का राज्य दे दिया। इस वंश के शासकों ने आधुनिक युग तक मिथिला की सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रगति का पथ-प्रदर्शन किया।

हमारी पवित्र भारत-भूमि में मिथिला का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि हमारे व्याकरण, साहित्य तथा दर्शनशास्त्र की महत्त्वपूर्ण प्रगति में मिथिला की देन कम नहीं है। राजर्षि जनक की राजसभा ब्रह्मविद्या की विमल ज्योति से उद्भासित थी और राजा जनक उपनिषदों की शिक्षा के प्रचार तथा प्रसार को प्रोत्साहित किया करते थे। उनकी विद्वत्ता तथा ज्ञान की ख्याति के कारण देश-देश के पंडित उनकी सभा में पहुँचते थे। वृहदारण्यक उपनिषद् के निम्नोक्त उद्धरण से इस सत्य की पुष्टि होगी—"जनकः जनकः इति वै जनाकः धावन्ति" (जनक जनक कहते हुए लोग उनके पास दौड़ा करते थे)। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में उनकी प्रशंसा में कहा है, "जनकादि ऋषियों ने केवल कर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त

की है।" विदेह या जनक-वंश के सभी नृप दर्शनशास्त्र में पारंगत थे। देवी भागवत में इसकी सार्थक चर्चा इस प्रकार है, "इस वंश में जन्म लेनेवाले सभी राजा अपने दार्शनिक ज्ञान के लिए प्रसिद्ध हैं।" मिथिला के राजवंश के लोग ही नहीं, बल्कि मिथिला की प्रजा में भी दार्शनिक भावनाएँ कूट-कूट कर भरी हुई थीं। भागवत पुराण में लिखा है, "राजन्! मिथिला के लोग आत्मज्ञान में पारदर्शी हैं। सर्वयोगेश्वर की कृपा से गार्हस्थ्य जीवन में भी वे सुख तथा दुःख से परे रहने से दार्शनिक आदर्श का अनुसरण करते हैं।"

भारत वर्ष के दार्शनिक इतिहास के प्रशंसनीय तथा प्रख्यात द्रष्टा गौतम ने भी मिथिला का गौरव बढ़ाया। उनके वासस्थान के सम्बन्ध में स्कन्द पुराण का विवरण इस प्रकार है—"आसीद् ब्रह्मपुरनाम्ना विराजिता तस्यां वसति धर्मात्मा गौतम नाम तापसः"। अतः गौतम मिथिला के ब्रह्मपुरी नामक गाँव में रहते थे। धर्मशास्त्र तथा सामाजिक विधान के क्षेत्र में भी मिथिला की देन उल्लेखनीय है। भारत के प्रसिद्ध सामाजिक विधि-विज्ञान के प्राचीन रचयिता याज्ञवल्क्य ने इसी भूमि के गौरव को बढ़ाया था। इनके बाद भी मिथिला के विधिशास्त्र के लेखकों में लक्ष्मीधर, श्रीकर, हलायुध, भवदेव, श्रीधर, अनिरुद्ध, हरिहर तथा चन्द्रेश्वर के नाम गौरव के साथ स्मरण किए जाते हैं। दार्शनिक ज्ञान में भी मिथिला के दार्शनिकों की देन पर्याप्त है। न्यायशास्त्र को सर्वप्रथम सुसम्बद्ध रूप से गौतम ने प्रस्तुत किया तथा इसमें मिथिला के अन्य प्रतिष्ठा-प्राप्त विद्वानों की देन भी स्मरणीय है। इन विद्वानों में अग्रणी थे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' के रचनाकार गंगेश उपाध्याय (१३ वीं सदी), उनके पुत्र वर्धमान उपाध्याय (१२५०), पक्षधर मिश्र [(जिनका असली नाम जयदेव (१४५०) था)], वासुदेव मिश्र (१४५०), शंकर मिश्र (१५२५), छोटे वाचस्पति मिश्र (१५ वीं सदी के उत्तरार्द्ध) तथा दरभंगा राजवंश के प्रतिष्ठाता महेश ठाकुर। यहाँ के विद्वानों ने मीमांसा पर भी प्रकाश डाला था। बिहार के मीमांसकों में सबसे प्रसिद्ध मंडन मिश्र थे। इनकी ख्याति आदि जगद्गुरु शंकराचार्य तक पहुँची थी और वे उतनी दूरी से मंडन मिश्र के गाँव महिषमती (वर्तमान सहरसा जिलान्तर्गत महिसी) पहुँचे थे। यहाँ उच्चकोटि के साहित्य तथा व्याकरण के ग्रन्थ भी लिखे गए थे। मिथिला के पद्मनाभ को "सुपद्म व्याकरण" लिखने का गौरव प्राप्त है। काव्य तथा अलंकार-शास्त्र के जगत में निम्नलिखित कवि-कोविद स्मरणीय हैं—'प्रसन्न-राघव' के रचयिता जयदेव, 'अनर्घराघव' के लेखक मुरारि, 'काव्य-प्रदीप'-प्रणेता गोविन्द ठाकुर, 'रसमंजरी' के रचयिता भानुदत्त, 'चन्द्रालोक' के लेखक जयदेव, [illegible] के लेखक शंकर तथा [illegible] के रचयिता [illegible]।

विद्यापति की अमर कविताएँ आज भी पाठकों के हृदय में अपूर्व भाव जाग्रत करती हैं तथा उनके मानस में नवीन प्रेरणा प्रदान करती हैं। गद्य-साहित्य में ज्योतिरीश्वर ठाकुर लिखित 'वर्णरत्नाकर' (१२ वीं—१३ वीं सदी) तथा विद्यापति रचित 'कीर्तिलता' आदि उच्च कोटि के साहित्य के निदर्शन हैं।

आधुनिक विद्वानों को जिन बहुतेरे प्रसिद्ध तथा प्रकाशित ग्रन्थों के बारे में जानकारी है उनके अतिरिक्त भी मिथिला के कोने-कोने में ऐसी बहुत हस्त-लिखित पोथियाँ हैं जिनका अध्ययन नव भारत के स्वाधीन अधिवासियों के सांस्कृतिक विकास के लिए परमावश्यक है।

किसी भी देश या समाज का सबसे कठोर समालोचक उसकी समसामयिक कला है। कला अपने युग की सभ्यता के विभिन्न पहलुओं को प्रतिबिम्बित करती है। मौर्य-काल एक सृजनकारी युग था और इस काल की सर्वोत्तम कला के उदाहरण पत्थरों से निर्मित विशाल स्मारक-स्तम्भ आदि हैं। इस युग के बहुतेरे दक्ष अभियंताओं के द्वारा स्थापत्य-कला की भी काफी प्रगति हुई। इस युग में भारत में आनेवाले यूनानी परिव्राजक पाटलिपुत्र के नगर-निर्माण की योजना तथा यहाँ की स्थापत्य-कला से बहुत ही प्रभावित हुए थे। मेगास्थ-नीज ने, जो इस नगर में कुछ दिनों रहे थे, इसके विवरण में कहा है कि यह एक आयताकार नगर है जिसकी लम्बाई ८$\frac{१}{२}$ मील तथा चौड़ाई १ मील १२७० गज है। इस नगरी की रक्षा के लिए चारों ओर खोदी गई परिखा (नहर) है तथा विशाल काष्ठ-निर्मित दीवाल है जिसमें ६४ दरवाजे तथा ५७० बुर्ज हैं। काष्ठनिर्मित दीवार के कुछ भग्नांश पुरातत्त्व-विभाग की खुदाई के द्वारा प्राप्त हुए हैं। पतंजलि ने पाटलिपुत्र के विशाल भवनों के बारे में विशेषतः सम्राट के महल तथा नगर की ऊँची दीवारों की प्रशंसा की है। मेगास्थनीज की दृष्टि में पाटलिपुत्र के मौर्य सम्राट् के विशाल भवन की सुन्दरता उनके अपने देश के सुसा तथा एकबाटाना के प्रासादों से कहीं अधिक थी। पटने के समीपस्थ कुम्हरार में जो पुरातात्त्विक खनन-कार्य किए गए हैं, उनके द्वारा प्राचीन पाटलि-पुत्र के सम्राट का ८४ स्तम्भोंवाला विशाल सभा-भवन निकल आया है। इस युग में पाटलिपुत्र के साधारण लोगों में भी कला की उन्नति के लिए लगन थी। इसके श्रेष्ठ नमूने हैं पटना के समीप प्राप्त दो यक्षों की मूर्तियाँ, जिन्हें सुरक्षित रखने के लिए कलकत्ता के अजायबघर में उन्हें भेज दिया गया है। मौर्ययुग की ऐसी ही अन्य मूर्तियों की तरह ये भी चुनार के समीप के भूरे पीले रंग के पत्थर से बनाई गई हैं और इनकी चिकनाहट (पॉलिश) धातु की बनी हुई मूर्त्तियों जैसी है।

सम्राट् अशोक के शासन-काल के समय की कला के सर्वप्रथम निदर्शन हैं एक ही विशाल पत्थर को काटकर बनाए गए स्तम्भ, जिन पर उनके उपदेश खोदे गये थे। प्रत्येक अशोक-स्तम्भ विशाल पत्थर को काट कर बनाया गया है। एक ऊँचे और लम्बे ढंग का एक दूसरे पत्थर पर खुदा हुआ विशाल चूड़ा या शीर्ष— इन दो ही भागों का है। स्तम्भ जो गोल तथा ऊपर के हिस्से में क्रमशः थोड़ा-सा पतला होता है, बालू-पत्थर का बना हुआ होता है और इसकी चिकनाहट (पॉलिश) तथा इसकी सुडौल बनावट बहुत ही सुन्दर है। शीर्षांश भी इसी प्रकार चिकना होता है और उस पर एक या अधिक बैठे हुए पशु एक शिला पर बने रहते हैं जिसके आधार पर उभरे हुए सुन्दर कारुकार्य सुशोभित रहते हैं और जिनके नीचेवाले अंश में एक उलटा हुआ कमल का फूल बना हुआ होता है, जिसे साधारणतः 'पर्सिपोलिटन घंटी' का नाम दिया गया है और जो सम्भवतः गलत है। बिहार में जो स्तम्भ हैं उनमें से कुछ ऐसे हैं जिन पर उपदेश खुदे हुए हैं—जैसे कि लौरिया-अरेराज, लौरिया-नन्दनगढ़ तथा रामपूर्वा और कुछ ऐसे भी हैं जिनपर कोई शिला-लिपि नहीं है, जैसे बसाढ़ या वैशाली के समीप का कोल्हना (जिसके शीर्ष पर सिंह खुदे हुए हैं)। मुजफ्फरपुर जिले के हाजीपुर में एक ऐसे ही मौर्य-काल की शीर्ष शिला का अंश प्राप्त हुआ है जिसे पटने के अजायबघर में रखा गया है और जो मौर्य-युग के प्रस्तर-शिल्प की चिकनाहट का एक श्रेष्ठ नमूना है।

बिहार में प्राचीन काल में चट्टानों को काट कर बनाए गए चैत्यों के निदर्शन भी पाए गए हैं। ऐसे चैत्यों में गया से सोलह मील (२५$\frac{3}{5}$ किलोमीटर) उत्तर बराबर के पहाड़ में खुदे हुए चार चैत्य श्रेष्ठ हैं। गया से लगभग पचीस मील पूरब में सीतामढ़ी नाम की एक छोटी गुफा है। पटने के लोहानीपुर (एक मुहल्ला) में एक ही सतह में प्राप्त दो असम्पूर्ण (टोर्सो) जैन तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ पाई गई हैं जिनकी चिकनाहट (पॉलिश) उच्च कोटि की है। इनमें से एक की पॉलिश निस्सन्देह मौर्यकाल की है और इसे 'ऐतिहासिक युग' की सबसे पुरानी मूर्ति-निर्माण-कला का निदर्शन माना जाता है। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि बोधगया के बोधि-वृक्ष की शोभा बढ़ाने के लिए जो विशेष रूप से और सुन्दर ढंग से खुदे हुए पत्थर के घेरे बने हुए हैं, वे इस तथ्य के द्योतक हैं कि उस युग में बिहार में कला के क्षेत्र में कैसी आश्चर्यजनक प्रगति हुई थी। ये घेरे सम्भवतः ई० पू० प्रथम शताब्दी के हैं। मौर्यकाल तथा कुषाण काल में कला-विद्या के क्षेत्र में बिहार की अपूर्व प्रतिभा के परिचायक हैं बुलन्द बगीचा तथा कुम्हरार (पटने के समीप) एवं बक्सर और वैशाली में प्राप्त

असंख्य कड़ी मिट्टी की बनी हुई सुन्दर मूर्त्तियाँ।

गुप्तकाल में कला के सभी क्षेत्रों में पूर्ण विकास हुआ। वस्तुतः भारतीय मूर्त्ति-निर्माण कला का यह स्वर्णिम युग था और इस समय की निपुणता तथा सौन्दर्य ज्ञान का अनुसरण सदियों तक इस देश के कलाकारों ने किया। ब्राह्मण-काल के तथा बौद्धयुग के देव-देवियों और पवित्र अवतारों की मूर्त्तियों की निर्माण कला की इस गुप्तकाल में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। इतिहास द्वारा इस निर्दिष्ट काल में (प्रागैतिहासिक युग नहीं) निर्मित मूर्त्तियों के सबसे प्राचीन नमूने बिहार में प्राप्त हुए हैं, जैसे—महाराजा त्रिकमाल के ६४ वें अब्द में निर्मित बोधगया की बुद्ध मूर्त्ति। ईसा के बाद चौथी सदी में बनाई गई इस मूर्त्ति का भारतीय मूर्ति-निर्माण-कला में विशेष महत्त्व है। "इस मूर्त्ति में बुद्धदेव एक विशिष्ट मुद्रा में आसीन हैं, उनके सिर पर छोटी-छोटी घुंघराली जटाओं का मुकुट है तथा उनके चेहरे पर ज्ञान एवं ध्यान की दिव्य ज्योति की दीप्ति है।" कई वर्ष पहले के० पी० जायसवाल शोध-संस्थान द्वारा कुम्हरार में आयोजित जो खनन-कार्य हुआ था, उसके फलस्वरूप गुप्तकाल की कुछ पत्थर की मूर्त्तियों के अतिरिक्त कड़ी मिट्टी की बनाई गई कुछ मनुष्य तथा पशुओं की छोटी-छोटी मूर्त्तियों के नमूने तथा मिट्टी के तवकों पर किए गए कारु-कार्य और कड़ी मिट्टी की बनाई गई तख्तियों पर बुद्ध, गन्धर्वों और विद्याधरों तथा द्वारपालों के उभरे हुए चित्र भी प्राप्त हुए हैं। कुम्हरार में बहुत ही निपुणता से पत्थर खोद कर बनाया गया बुद्धदेव के सिर (चेहरे) का एक नमूना प्राप्त हुआ है, जिसमें उनके मुखमंडल पर गभीर ध्यान मुद्रा की शान्त ज्योति की झलक है। इसे पटना के अजायब घर में रखा गया है। राजगीर, नालन्दा तथा वैशाली से भी खनन द्वारा गुप्तकाल की कला के कुछ उल्लेखनीय नमूने पाए गए हैं। राजगीर के मणि-नाग मन्दिर में भी गुप्तकाल में पत्थर पर खोदे गए गणेश, विष्णु तथा नाग-नागिनों के चित्र इस कला के श्रेष्ठ निदर्शन हैं। गुप्तकाल ही में पत्थरों पर खुदी तथा उभरी हुई वैष्णव मूर्त्तियाँ राजगीर में पाई गई हैं। इनमें से गरुड़ पर आसीन एक विष्णु-मूर्त्ति, सुन्दर तथा ऋजु रेखाओं के लिए दर्शनीय है। यह नालन्दा के अजायबघर में रखी गई थी। वैशाली में दो चतुर्मुख लिंग, जिनमें से एक पर कुछ शिलालेख भी है, तथा कार्त्तिकेय की एक सुन्दर मूर्त्ति पाई गई है। गुप्तकाल की और एक सुन्दर कार्तिकेय की मूर्त्ति शाहाबाद जिले में प्राप्त हुई थी जिसे पटना के अजायबघर में रखा गया है।

इस युग की धातु-शिल्प-कला भी वहुत ही उच्चकोटि की है। नालन्दा में ह्यु-एन-सांग ने एक छह महलवाले भवन में [illegible] निर्मित (तांबे की) [illegible] बुद्ध

ऊँची एक बुद्ध-मूर्त्ति देखी थी। भागलपुर के समीप सुलतानगंज में प्राप्त बुद्धदेव की एक पीतल की मूर्त्ति, जो ऊँचाई में ७½ फीट है, मूर्त्ति-निर्माण-कला का एक उत्तम नमूना है। इसे बर्मिंगहम अजायबघर में भेजा गया था। नालन्दा के पंचम युग का जो मन्दिर तृतीय स्थान (साइट) पर अवस्थित है, उसके सामने की दीवार पर मिट्टी आदि के प्रलेप से बुद्ध तथा बोधिसत्व के जो रूपांकन हैं उनका सौन्दर्य विस्मयकारी है। उस युग के साहित्य तथा परिव्राजकों के भ्रमण-वृत्तान्त पढ़ने से पता चलता है कि उस समय बिहार के सभी स्थानों में मन्दिर, मठ या स्तूप थे। इस युग के मन्दिरों में उल्लेखनीय हैं—नालन्दा का विशाल मन्दिर, प्रथम या द्वितीय सदी में सर्वप्रथम निर्मित बोधगया का ईंटों से बना हुआ महाबोधि मन्दिर तथा मंडलेश्वर का मन्दिर, जिसे आजकल मुण्डेश्वरी मन्दिर कहते हैं और जो शाहाबाद जिले के भभुआ के समीप रामगढ़ नामक स्थान की एक पहाड़ी पर अवस्थित है।

कला तथा संस्कृति की यह प्राचीन धारा पालवंश के नृपतियों के समय में पुनः पुष्ट हुई। इस समय बिहार के प्राचीन विश्वविद्यालयों का पुनरुत्थान हुआ था और इनमें उत्साह तथा पारस्परिक सहायता से बौद्ध, वैदिक, लौकिक तथा तान्त्रिक शिक्षा के समन्वय से विश्व के ज्ञान-भंडार की समृद्धि हुई थी। संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन बहुत उत्साह तथा आग्रह के साथ किया जाता था। संस्कृत-साहित्य के बहुत-से प्रसिद्ध ग्रन्थ इस युग में लिखे गए और इन ग्रन्थों की संस्कृत भाषा भी परिमार्जित मानी जाती है। नालन्दा और विक्रमशिला के भिक्षुओंने ईसा के बाद आठवीं से बारहवीं सदी तक सिद्धचर्यापदों की रचना की। स्वर्गीय डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल और महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इन सिद्ध पदों में स्थानीय प्राचीन (प्रोटो) हिन्दी अथवा मागधी हिन्दी का आविष्कार किया है और उनके मतानुसार आठवीं शताब्दी ही हिन्दी-साहित्य का आदि युग है। इन सिद्ध कवियों में सर्वप्रथम थे सरहपा। इन्होंने आठवीं सदी के मध्य भाग में प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। वे नालन्दा में रहते थे परन्तु उसके बाद वर्तमान आंध्र राज्य के गुंटूर जिलान्तर्गत श्रीपर्वत पर चले गये थे। उनके एक शिष्य थे शबरपा, जो नवम शताब्दी के प्रथम भाग में विक्रम-शिला में रहते थे।

बिहार में शिल्प-कला की समृद्धि बारहवीं सदी तक सुप्रतिष्ठित थी और गुप्त-काल की कला-पद्धति (जैसा प्राच्य देशों में कहा जाता है) के अनुसरण से बहुत-सी प्रसिद्ध पत्थर तथा पीतल की मूर्त्तियाँ पाल-राजाओं के शासन-काल में बनाई गई थीं। इस पद्धति की मूर्त्ति निर्माण-कला बिहार में और विशेषतः

नालन्दा में प्रचलित रहने के कारण अधिकतर मूर्त्तियाँ बुद्ध तथा उस युग के महायान बुद्धों द्वारा स्वीकृत कुछ देव-देवियों की थीं। क्योंकि सातवीं सदी के बाद महायान बौद्ध भी तन्त्र और व्रजयान और उनकी गुप्त तथा विविध पूजा-पद्धतियों द्वारा प्रभावित हुए थे। इस प्राच्य कला-पद्धति से ब्राह्मण-निर्माण-कला की भी प्रगति हुई और इस सम्प्रदाय द्वारा निर्मित उमा-महेश्वर की देव-मूर्त्तियाँ प्रधान थीं।

बिहार के कोने-कोने में इस निर्माण-कला के नमूने पाए जाते हैं और ये मूर्त्तियाँ सर्वाधिक संख्या में पटना जिले के राजगीर, नालन्दा, बिहारशरीफ, घोसरावाँ तथा तेतरावाँ में और गया जिले के बोधगया, कुकरीहर, तेलहरा, मुंदेरी, विशनपुर और धरावत में पाई गई है।

इसी प्राच्य शिल्प-कला-पद्धति के अनुसार निर्मित बहुतेरी सुन्दर पीतल की मूर्त्तियाँ हैं जिनमें से अधिकांश नालन्दा में तथा गया जिले के कुकरीहर में पायी गई हैं। ये पीतल की मूर्त्तियाँ अधिकांश बौद्धधर्म से सम्बन्धित हैं परन्तु कुछ ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत (जैसे गंगा, बलराम, विष्णु तथा सूर्य की मूर्त्तियाँ) भी पाई गई हैं। यह भी जानने योग्य तथा तथ्यपूर्ण बात है कि नवीं तथा बारहवीं सदियों के बीच के समय में बिहार में पोथियों (हस्तलिखित ग्रन्थों) को सुसज्जित करने की एक विशेष कला प्रचलित थी।

यद्यपि मध्यकाल में भारतवर्ष का इतिहास राजनैतिक क्षेत्र में भीषण युद्धों तथा उथल-पुथल का इतिहास रहा है, फिर भी इसी समय भारत में ऐसे उदार नैतिक सुधार हुए जिनके द्वारा विभिन्न प्रान्तों की स्थानीय भाषाओं में लिखित साहित्य की प्रगति तथा कला एवं संस्कृति के प्रगतिमूलक सम्मिश्रण में सहायता मिली। तुर्किस्तान के लोगों द्वारा भारत पर आक्रमण के पहले से ही इस्लाम के रहस्यवाद या सूफीमत से बिहार के दार्शनिक परिचित थे और इन बिहारी सूफियों ने धर्म और दर्शन का एक सुन्दर समन्वय किया था। बिहार में तरह-तरह के सूफी मतवाले अपना-अपना प्रचार करते थे परन्तु इनमें से सुहरा-वादिया और विशेषतः उसके फिरदौसिया-सिलसिला सम्प्रदाय के सूफी ही उल्लेखनीय हैं। पटना जिले के मनेर के प्रसिद्ध शाह शर्फुद्दीन अहमद साहब (जिनका जन्म १२६२ ई० में तथा मृत्यु बिहारशरीफ में १३७७ ई० में हुई थी) इसी सम्प्रदाय के थे। फिरदौसिया सम्प्रदाय के सन्तों ने 'मखतुहात' और 'मलफ़ुजात' के रूप में एक विशाल साहित्य की रचना की थी जिससे मध्य काल के सामाजिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के छात्रों को बहुतेरी आवश्यक तथा ज्ञानवर्धक बातों की जानकारी हो सकती है। बिहार में, सांस्कृतिक तथा

भाषागत सम्मिश्रण में सूफियों का पूरा महयोग रहा और जन साधारण की एक मिश्रित भाषा के रूप में खड़ी बोली या हिन्दुस्तानी के प्रवर्त्तन में भी उनका योगदान उल्लेखनीय है।

मध्यकाल में बिहार की चिन्ताधारा पर वैष्णव धर्म का भी पूरा प्रभाव पड़ा। 'कृत्यरत्नाकर' से (जिसका संकलन चन्द्रेश्वर ने लक्ष्मीधर रचित 'कृत्य-कल्पतरु' से चौदहवीं सदी के आरम्भ में ही किया था) यह स्पष्ट होता है कि मिथिला में तेरहवीं तथा चौदहवीं सदियों में लोगों के उपास्य देवता थे—विष्णु, हरि तथा शिव। पौराणिक तथ्यों के उद्धरण से चन्द्रेश्वर ने इस बात की पुष्टि की है कि आषाढ़ महीने की एकादशी तिथि (जब भगवान् विष्णु शेषनाग पर अनन्त शयन करते हैं) तथा कार्त्तिक की एकादशी तिथि (जब विष्णु अनन्त शयन से जाग्रत होते हैं) अर्थात् 'शयन एकादशी' तथा 'उत्थान एकादशी' का पालन हिन्दुओं का धर्म है। इसी ग्रन्थ में जन्माष्टमी के दिन श्रीकृष्ण के जन्म-दिवस के पालन की विधियों का विशद विवरण है। उन्होंने कार्त्तिक महीने की लक्ष्मी-पूजा या कोजागरी पूर्णमासी का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु विजया-द्वादशी को भगवान् वासुदेव की पूजा, त्रयोदशी को शोभायात्रा, चतुर्दशी को उपवास तथा पूर्णमासी को हरि-पूजन तथा हरि-कीर्तन का निर्देश किया है। उन्होंने चैत्र शुक्ला एकादशी तिथि में भी हरिपूजन का निर्देश किया है। विद्यापति के पिता के चाचा ने, जो चन्द्रेश्वर के वंशधरों में एक थे, एक वैष्णव ग्रन्थ की रचना की जिसका नाम 'गोविन्द मानसोल्लास' है। कामेश्वर वंश के यज्ञधर ने 'गीत-गोविन्द' की एक टीका लिखी थी।

सोलहवीं सदी के आरम्भ में गया भी वैष्णव धर्म का एक महान् केन्द्र था। जब श्री चैतन्य पिंड-प्रदान करने के लिए गया आए उस समय ईश्वरपुरी से उनकी भेंट हुई और उन्हीं से चैतन्य को दीक्षा मिली। यदि गया उस युग के वैष्णव साधुओं का तीर्थ स्थान न होता तो ईश्वरपुरी वहाँ नहीं गए होते।

मध्ययुग में भागलपुर जिले का मन्दार भी वैष्णव धर्म का एक केन्द्र था। मधुसूदन के मन्दिर का यश भारत के कोने-कोने में फैला हुआ था और दूर-दूर के प्रान्तों से असंख्य तीर्थयात्री यहाँ आते थे।

श्री चैतन्य के प्रमुख साथियों में चार बिहार के थे। वृन्दावनदास ने अपने 'चैतन्य- भागवत' में लिखा है कि ओड़िसा में श्रीचैतन्य के अन्तरंग साथी परमानन्दपुरी का जन्म स्थान तिरहुत में था। जयानन्द के कथनानुसार परमानन्दपुरी ने 'गोविन्द विजय' नामक ग्रन्थ लिखा था परन्तु इस ग्रन्थ का पता नहीं मिल सका है। तिरहुत के एक सुयोग्य विद्वान् रघुपति श्री चैतन्य से वाराणसी में

मिले थे। रघुपति एक प्रतिभाशाली कवि थे और उनकी ६ भक्तिमूलक कविताएँ रूपगोस्वामी द्वारा संकलित 'पद्मावली' में सम्मिलित हैं।

नित्यानन्द के भक्तों में एक का नाम 'बिहारी कृष्णदास' है जिससे यह स्पष्ट है कि वे बिहार के निवासी थे और बाद में नवद्वीप के पास बारागाछी गाँव में बस गए थे। नित्यानन्द जी इनके घर में बहुत दिनों तक रहे थे। जब गौरीदास पंडित नित्यानन्द को उनके यहाँ से ले गए तो बिहारी कृष्णदास पागल हो गए और जब नित्यानन्द जी पुनः उनके यहाँ गए तो चंगे हो गए।

चैतन्यदेव के बिहारी भक्तों में श्रेष्ठ थे विष्णुपुरी, जिन्होंने भागवत से भक्तिमूलक श्लोकों को चुनकर अपने ग्रन्थ 'भक्ति रत्नावली' में, भक्तिमार्ग में सिद्धिलाभ करने के सोपान-स्वरूप, संकलन किया है। देवकीनन्दन ने (जो श्री चैतन्य और नित्यानन्द के बाद के समसामयिक थे) अपने ग्रन्थ 'वैष्णव-वन्दना' में चैतन्यदेव के सम्पर्क में आनेवाले लोगों का विवरण दिया गया है और इस ग्रन्थ में उन्होंने विष्णुपुरी का नाम दिया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि विष्णुपुरी सोलहवीं सदी के प्रारम्भ के एक सन्त थे। हिन्दी 'भक्तमाल' ग्रन्थ की अपनी टीका में भी प्रियदास ने विष्णुपुरी का चैतन्यदेव के समसामयिक के रूप में वर्णन किया है। पूर्णिया जिले के विवरण (गजेटीयर) में हैमिल्टन बुकानन (१८०९ ई०) ने लिखा है, "तीन सौ वर्ष पूर्व मिथिला के एक ब्राह्मण ने अपने को ईश्वर में समर्पण करना चाहा था और वाराणसी में जाकर उन्होंने शास्त्रीय क्रियाओं के द्वारा दण्डी होने का अधिकार प्राप्त किया था।" उन्होंने यह भी लिखा है कि इन्हीं (ब्राह्मण) के नामानुसार इनके वंश के लोगों को विष्णुपुरी कहा जाता है। बुकानन ने इन लोगों को पूर्णिया जिले में देखा था।

तिरहुत तथा भागलपुर में बुकानन ने बंगाल (गौड़ीय) वैष्णव-सम्प्रदाय के ७० (सत्तर) मठ देखे थे। वैष्णव परिवारों की संख्या ३००० (तीन हजार) के लगभग थी परन्तु बिहार में रामानन्दी सम्प्रदाय के वैष्णवों की संख्या इनी-गिनी ही थी। उनके अन्दाज से इस सम्प्रदाय के लगभग १०० (एक सौ) अखाड़े थे जिनमें करीब-करीब ७० (सत्तर) ऐसे लोगों के थे जो कि विवाहित थे। बुकानन ने लिखा है—"इनमें कोई भी विशेष विद्वान् तो नहीं हैं परन्तु ये साधारण हिन्दी बोली में लिखी हुई कविताओं के अर्थ समझ लेते हैं।"

गोपाल भट्ट गौड़ीय सम्प्रदाय के ६ गोस्वामियों में एक थे। इन्होंने वृन्दावन में राधारमण जी की मूर्त्ति की स्थापना की थी। राधारमण जी के पुजारियों (सेवकों) के एक वंशधर वृन्दावन से पटना चले आए थे। उन्होंने पटना के गायघाट पर चैतन्यदेव की एक मूर्त्ति की स्थापना की थी। धीरे-धीरे इस वंश

के लोगों को यश तथा धन बहुत मिला और पटना, भागलपुर तथा संताल परगना जिलों में इन्हें काफी जायदाद प्राप्त हुई तथा बहुत से लोग इनके संप्रदाय में सम्मिलित होकर इन लोगों के शिष्य बने। पटना के गायघाट के अखाड़े में झूलन, रथयात्रा तथा ढोल (होली) आदि वैष्णव-पर्व बड़ी धूमधाम से मनाए जाते हैं। इस अखाड़े में एक अच्छा पुस्तकालय भी है जिसमें कुछ अमूल्य हस्तलिखित पोथियाँ हैं।

बिहार सिख-धर्म का भी एक प्रसिद्ध केन्द्र रहा है। शहीद, वीर तथा संत गुरु गोविन्द सिंह का जन्म दिसम्बर, १६६६ ई० में पौष सुदी ७ को पटना सिटी में हुआ था। उन्हीं के समय से पटना सिटी का पवित्र हरमन्दिर सिखों का एक पूत-पवित्र तीर्थ-स्थान है।

सारे भारत की भाँति बिहार में भी मध्यकाल में स्थानीय भाषाओं के साहित्य की बड़ी प्रगति हुई। यह प्रगति दो कारणों से हुई थी—धार्मिक क्षेत्र में उथल-पुथल मचानेवालों तथा सुधारकों के गहरे असर से और राजा-महाराजा तथा रईस लोगों के प्रोत्साहन से। अठारहवीं सदी के मध्य भाग तक मैथिली साहित्य की विशेषताएँ थीं—उसकी सुरीली संगीत जैसी मिठास और दूसरी उस भाषा में लिखित नाटकों की भरमार। १७५६ ई० तक के युग में हिन्दी-साहित्य में सबसे प्राचीन निर्गुणवादी सन्त थे सारन जिले के मांझी गाँव के रहनेवाले धरणीदास। उनका जीवन-काल था सत्रहवीं सदी का मध्यभाग। बिहार के प्रसिद्ध हिन्दी भक्त-कवियों में दरिया साहब का नाम भी उल्लेखनीय है। इनका जन्म शाहाबाद जिले के एक गाँव के मुसलमान परिवार में १६७४ ई० में हुआ था तथा इनकी मृत्यु १७८० ई० में हुई। बिहार के अन्य सन्त-कवियों में उल्लेखनीय हैं—शाहाबाद जिले के रामेश्वरदास, (जन्म १७१८ ई०), रामरहस्य (१७७४-१८०१), शिवनाथदास (अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध के) तथा मंगनीराम। मंगनीराम का जन्म मुजफ्फरपुर जिले के एक गाँव में १८१५ ई० में हुआ था। इन भक्तिमार्ग के कवियों पर सन्त कबीर का पूरा प्रभाव पड़ा था परन्तु चम्पारण जिले के शरभंग-सम्प्रदाय के सन्त लेखकों पर तांत्रिकों का अधिक प्रभाव था। सूफी काव्य की सबसे प्राचीन हस्तलिखित पोथियों (सत्रहवीं सदी) के संरक्षण का गौरव बिहार को ही है। यहाँ पर पद्मावत (जायसी) तथा अन्य भक्त-कवियों की हस्तलिखित पोथियाँ भी पाई गई हैं। बिहार के कुछ कवियों ने कृष्ण-लीला तथा राम-चरित सम्बन्धी काव्य भी लिखे।

इस मध्यकाल में बहुतेरे राजनैतिक तथा सांस्कृतिक प्रभावों के कारण

बिहार में उर्दू का प्रचलन हुआ तथा वह खूब लोकप्रिय हुई। उर्दू के कई प्रसिद्ध कवियों का पटने के समीपवर्त्ती फुलवारी शरीफ से घनिष्ठ सम्बन्ध था। फारसी के प्रसिद्ध कवि अली हाजिन भारतवर्ष आए थे और महाराजा रामनारायण (मृत्युकाल १७६३ ई०) उनके शिष्य थे। बिहार के नवाब नाजिम राजा सिताब राय के पुत्र महाराजा कल्याण सिंह रचित उर्दू 'मसनवी' हाल में पायी गई है।

मध्यकाल में बिहार की वास्तुकला का इतिहास भी बहुत ही रोचक है। हिन्द-अफगान शासकों में शेरशाह प्रसिद्ध हैं। उनके समय में मुस्लिम-स्थापत्य-कला बिहार में बहुत ही उन्नत तथा विकसित हुई। शेरशाह का सासाराम (शाहाबाद जिला) स्थित मकबरा, जो एक विशाल झील के बीच में ऊँचे चबूतरे पर निर्मित है, हिन्दू तथा मुस्लिम-स्थापत्य के सम्मिश्रण का एक महान् तथा सुन्दर नमूना है। इसकी बनावट में हिन्दुओं की निर्माण-कला तथा मुस्लिम स्थापत्य कला का सुन्दर और महत्त्वपूर्ण समन्वय हुआ है। शेरशाह के पुत्र तथा उत्तराधिकारी इस्लाम शाह का मकबरा भी इसी ढाँचे का था परन्तु अपनी विशालता के कारण वह अधूरा ही रह गया। शेरशाह के दरबार के एक प्रमुख सदस्य बख्तियार खाँ का मकबरा भी सासाराम के सूरी मकबरा के ढाँचे पर चैनपुर में बनाया गया था। मनेर में मखदुम शाह दौलत का समाधि-भवन, जो कि १६१६ ई० में बना था, सुन्दर ढंग से बनाया गया था और उसमें जो कलात्मक कार्य हैं वे भी उच्चकोटि के हैं।

मध्यकाल में बिहार में जो थोड़े से हिन्दू-मन्दिर निर्मित हुए थे उनमें पटने से अठारह मील की दूरी पर अवस्थित वैकटपुर का शिव-मन्दिर, जिसके लिए राजा मानसिंह ने आर्थिक सहायता की व्यवस्था की थी, प्रसिद्ध है। रोहतास गढ़ में निर्मित हरिश्चन्द्र-मन्दिर के निर्माण का यश भी राजा मानसिंह को ही प्राप्त है।

राजनैतिक प्रभाव की कमी के साथ ही साथ मुगलों ने कला-विद्या को प्रोत्साहित करने में सहायता देने में भी कमी कर दी और तब बहुत-से गुणी तथा निपुण शिल्पी देहली छोड़कर अन्य राज्यों में बस गए। इनमें से कुछ शिल्पी बिहार पहुँचे और यहाँ इन्होंने एक नए ढंग की चित्रकला का विकास किया जो "पटना की चित्रकारी" के नाम से प्रसिद्ध है। इस ढंग की चित्रकला का सर्वोत्तम विकास १८५० ई० तथा १८८० ई० के बीच हुआ। इस समय के चित्रों के कुछ नमूने पटना के अजायबघर में तथा पटना के राजकीय शिल्पकला

विद्यालय में सुरक्षित हैं। पटना के इन कलाकारों की चित्रकारी साधारण सामाजिक जीवन की घटनाओं पर आधारित होती थी।

किसी भी देश की सभ्यता का द्योतक है उसकी शिक्षा की प्रगति। उन्नीसवीं सदी के दूसरे तथा तीसरे दशकों से पाश्चात्य देशों की शिक्षा तथा संस्कृति का जो प्रभाव देश पर धीरे-धीरे बढ़ता गया उसके फलस्वरूप भारतीय चिन्तन तथा संस्कृति में बहुत से क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुए। आज का नया भारत बहुत हद तक इस नयी शिक्षा से ही बना है। हमारे इस विशाल देश पर जब पश्चिमी साम्राज्यवाद, पश्चिम की संस्कृति और औद्योगीकरण का असर पड़ना आरम्भ हुआ उस समय हमारे देश की शिक्षा की क्या व्यवस्था थी, यह जानना शिक्षाप्रद और रोचक होगा।

पुराने विद्यालयों में जो शिक्षा की विधि सुव्यवस्थित ढंग से चलाई जाती थी वह काल की गति के साथ-साथ, बहुतेरी बाधाओं के कारण, लुप्त हो गई थी और राष्ट्र की ओर से भी मानवोचित विचारों पर आधारित कोई शिक्षा-प्रणाली विकसित नहीं की गई थी। शिक्षा वास्तव में राजपुरुषों के व्यक्तिगत दान तथा उनके परिवार की कृपा पर निर्भर करती थी अथवा समाज के अन्य उदार लोगों के दान-पुण्य पर आश्रित थी। बुकानन ने दरभंगा-नरेश के सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्तव्य प्रकट किया है—"दरभंगा के राजा स्वयं एक बहुत उच्च कुल के ब्राह्मण हैं और वे अपने राज्य के पंडितों की शिक्षा के लिए प्रयत्न करते हैं। जब कोई विद्वान् अपनी शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् पण्डित की उपाधि-प्राप्त करना चाहता है तो राजा एक सभा का आयोजन करते हैं और उपाधि प्राप्त करने के बाद उसे पंडितोचित परिधान देकर उसके मस्तक पर टीका लगा देते हैं।"

बंगाल तथा बिहार में धीरे-धीरे उच्चकोटि की संस्कृत शिक्षा के ह्रास का कारण था कायमी बन्दोबस्ती (Permanent Settlement) के चलते प्राचीन जमींदार-परिवारों की आय में कमी और उनकी आर्थिक अवनति। लार्ड मिन्टो ने तिरहुत तथा नदिया के संस्कृत-विद्यालयों के संबंध में ६ मार्च, १८११ ई० के अपने प्रतिवेदन में यह विचार प्रकट किया है : "साहित्य-शिक्षा की इस प्रकार की अवहेलना का मुख्य कारण यह है कि अपने शासन-काल में पहले के राजाओं तथा राजपुरुषों से और विभिन्न प्रान्त के राज्य के लोगों से जो व्यवितगत प्रोत्साहन प्राप्त होता था वह अब नहीं मिलता है। इस प्रकार की समीक्षा से यह स्पष्ट होगा कि पहले के राजाओं तथा शक्तिशाली सफल राजपुरुषों द्वारा ही नहीं बल्कि इनके अतिरिक्त जमींदारों तथा ऐसे विद्यालयों

से शिक्षा-प्राप्त लोगों के द्वारा भी इन विद्यालयों को सहायता मिलती थी।"

बंगाल और बिहार की ऐसी शिल्प-संस्थाओं को चतुष्पाठी या टोल कहते थे। ये देश के विभिन्न स्थानों में प्रतिष्ठित थे। बुकानन ने पूर्णिया जिले के ७९ ऐसे संस्कृत-अध्यापकों का उल्लेख किया है जो विभिन्न विषयों में शिक्षा देते थे। उनके इस सर्वेक्षण कार्य में जो पंडित उनकी सहायता कर रहे थे उनसे उन्हें मालूम हुआ था कि बिहार तथा पटने में ५६ ऐसे उच्चकोटि के विद्वान् थे जो व्याकरण, न्याय तथा दर्शनशास्त्र में पारंगत थे। उसी सूत्र से शाहाबाद जिले में ऐसे २५ विद्वानों के सम्बन्ध में उन्हें पता लगा था। भागलपुर में ऐसे विद्वान् शिक्षकों की संख्या सिर्फ चौदह थी। तिरहुत के सम्बन्ध में बुकानन ने लिखा है—"बहुत-से शिक्षक ऐसे थे जिनकी विद्वत्ता प्रसिद्ध थी। साहित्य, न्याय, अध्यात्म विद्या तथा दर्शनशास्त्र जैसे विषयों के उच्चकोटि के अध्यापकों के अतिरिक्त कुछ ऐसे विद्वान् भी थे जो दूसरे अनुषंगी विषय भी, जैसे चिकित्साशास्त्र, ज्योतिष तथा पुराण आदि पढ़ाया करते थे।"

फारसी की शिक्षा की व्यवस्था बहुत ही अच्छी थी। मुसलमान शासक तथा रईस लोग हर तरह से इसकी मदद करते थे। मुसलमानों के लिए उच्च शिक्षा का माध्यम फारसी ही था। दरबार तथा सरकारी कार्यालयों में इसकी प्रधानता के कारण, व्यावहारिक सुविधाओं के ख्याल से, हिन्दू भी इस भाषा को सीखते थे। एडम साहब ने पाँच जिलों का परिदर्शन किया था और उन्होंने यह पाया कि फारसी मकतबों में हिन्दू छात्रों की संख्या २०९६ थी और मुसलमान छात्रों की संख्या १५५६। बंगाल और बिहार की चर्चा करते हुए बुकानन ने लिखा है कि फारसी विद्यालयों में "हिन्दू भी उतने ही जाते थे जितने मुसलमान, क्योंकि फारसी की शिक्षा प्रत्येक शिक्षित मनुष्य के लिए आवश्यक मानी जाती थी तथा जो लोग न्यायालयों में काफी धन कमाने की आशा रखते थे उनके लिए तो फारसी की शिक्षा अनिवार्य थी।" बिहार में अच्छी तरह से फारसी जाननेवाले लोगों को 'मुंशी' कहा जाता था। पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार में फारसी सीखने की प्रथा प्रचलित रही है और आज तक इस प्रथा का अन्त नहीं हुआ है।

अजीमाबाद (पटना) बंगाल तथा बिहार का फारसी सीखने का सबसे बड़ा केन्द्र था। "सियर-उल-मुतख़्रीन" के लेखक गुलाम हुसैन के अनुसार—"अजीमाबाद में उस समय कुछ ऐसे लोग थे जिनको विज्ञान सीखने-पढ़ाने का आग्रह था और मुझे याद है कि इस शहर तथा इसके आस-पास में मैंने नौ

या दस मशहूर प्रोफेसर (प्राध्यापक) तथा तीन-चार सौ विद्यार्थी देखे थे जिससे यह स्पष्ट है कि इस महानगर में तथा इसके आस-पास के जिलों में और भी कितने ऐसे लोग होंगे। बिहार शहर में जितने प्रसिद्ध विद्वान् थे उनमें काजी गुलाम मुजफ्फर मुजफ्फरअली खाँ के नाम से, मशहूर थे। इन्हें नवाब अलीवर्दी खाँ खुद पहचानते थे और उन्होंने इनको मुर्शिदाबाद के प्रधान विचारक (काजी) के पद पर बहाल किया था।" इसी समय ईरान से कई फारसी भाषा के विद्वान् भारत में आकर बिहार तथा पटना में बस गए थे।

संस्कृत तथा फारसी की उच्चकोटि की शिक्षा देने के लिए स्थापित किए गए विद्यालयों के अलावा शहरों और गाँवों में स्थानीय भाषाओं की शिक्षा देने के लिए बहुतेरे विद्यालय थे तथा समाज के प्रत्येक स्तर के लोग प्रारंभिक शिक्षा पाना चाहते थे। जहाँ कहीं भी मस्जिद थी वहाँ फारसी पढ़ाने के लिए मकतब का रहना तो जरूरी था ही, इसके अलावे दूसरी जगहों में भी मकतब थे। इन मकतबों में साधारण व्याकरण के शब्द (जैसे आमदनामा), चिट्ठियाँ लिखने के तरीके, किस्से और शेर भी पढ़ाये जाते थे। कभी-कभी अलंकार-शास्त्र तथा दवा-दारू के बारे में या धर्म की बातों की पढ़ाई भी होती थी। शेख सादी की मशहूर किताबें—"गुलिस्तां" और "बोस्तां" ही—ज्यादातर मकतबों में पढ़ाई जाती थीं। लड़कों को कुरानशरीफ से कलमा याद कराए जाते थे। "सुन्दर ढंग से लिखना पढ़े-लिखे लोगों के लिए तारीफ की बात मानी जाती थी।" छपी हुई किताबें तो नहीं थीं परन्तु हाथ की लिखी हुई किताबों का इस्तेमाल हमेशा हुआ करता था। एडम ने उन सिर्फ नाम के अरबी मकतबों का भी जिक्र किया है जिनमें "साधारण तथा विशेष अवसरों पर आवृत्ति के लिए कुरानशरीफ के कुछ हिस्से रटाए जाते थे।"

सारे भारत में प्रारंभिक शिक्षा के साधारण नियमों में तो कोई अन्तर नहीं था परन्तु विशेष बातों में कुछ फर्क अवश्य था। गाँवों के साधारण प्रारंभिक स्कूलों में विद्यार्थी जमीन पर, ताड़ के पत्ते पर, केले के पत्ते पर और अन्त में कागज पर लिखना तो सीखते ही थे, इसके अलावे गणित के नियम और कृषि-सम्बन्धी तथा व्यापार-सम्बन्धी हिसाब-किताब लिखना भी सीखते थे। प्राकृतिक तथा भौतिक विज्ञान की कुछ साधारण बातों का भी ज्ञान वे प्राप्त कर लेते थे। इन प्राथमिक विद्यालयों में प्राप्त शिक्षा का स्तर बाद में स्थापित स्कूलों की शिक्षा से शायद कुछ निम्न था। उन दिनों में प्रचलित प्रारंभिक शिक्षा-प्रणाली में अच्छी किताबों की कमी, योग्य शिक्षकों का अभाव और परम्परागत ढाँचे से दी गयी शिक्षा, जिसमें मौलिकता का अभाव था, इत्यादि

त्रुटियाँ तो अवश्य थीं परन्तु यह कह देना अन्याय होगा कि उसका ढंग वर्जनीय था या उस समय जो शिक्षा दी जाती थी वह—घृणित और अत्याचारों से पूर्ण थी"—जैसा कि १८४४ ई० में एक लेखक ने मन्तव्य दिया था। उस समय की शिक्षा-प्रणाली से छात्रों को तत्कालीन साधारण सामाजिक जीवन का ज्ञान प्राप्त होता था जो आज जैसा जटिल नहीं था। उस शिक्षा-प्रणाली से बच्चों के मन में मानवोचित गुणों का समावेश भी होता था।

एडम के सर्वेक्षण के अनुसार उस समय बंगाल और बिहार में कुल १,५०,७४८ गाँव थे और प्रारम्भिक विद्यालयों की संख्या १,००,००० थी अर्थात् प्राय: प्रत्येक ग्राम में एक विद्यालय था। एडम ने जब बंगाल तथा बिहार के जिलों का सर्वेक्षण किया था उस समय इन प्रान्तों की साक्षरता का औसत ७.७५% था। इसमें सर्वाधिक साक्षरता वर्दवान जिले में १६% थी और सबसे कम २.५% तिरहुत के बहवार थाने में।

आधुनिक भारत के शिक्षा-क्षेत्र में सन् १८३५ ई० एक उल्लेखनीय वर्ष इसलिए है कि इस वर्ष में शिक्षा-पद्धति में एक नई धारा प्रवाहित हुई। ७ मार्च, १८३५ ई० को लार्ड विलियम बेन्टिक की सरकार ने यह घोषणा की कि "शिक्षा के लिए जो कुछ भी कोष मंजूर हो उसे केवल अंग्रेजी-शिक्षा के लिए ही खर्च करना सर्वोत्तम है।" इस घोषणा के बाद ही कुछ स्थानों में ऐसे विद्यालय स्थापित हुए। एडम ने लिखा है कि १८३५ ई० के शुरू में ही पूर्णिया में अंग्रेजी-शिक्षा देने के लिए एक विद्यालय स्थापित हुआ था। बिहार में ऐसे दो और शिक्षा-केन्द्र स्थापित हुए—एक बिहार में और दूसरा भागलपुर में। इसके बाद शीघ्र ही पटना, आरा तथा छपरा में जिला स्कूल स्थापित हुए और भागलपुर में भी (हिल) जिला स्कूल की स्थापना हुई। भागलपुर में एक दूसरा विद्यालय भी खोला गया था—जिसका नाम भागलपुर इंस्टिटिउशन था। मुजफ्फरपुर जिला स्कूल १८४५ ई० से ही चालू था। १८६३ ई० में देवघर, मोतिहारी, हजारीबाग तथा चाईबासा के लिए भी जिला स्कूल मंजूर किए गए थे। संताल परगना के पाकुड़ का उच्च विद्यालय १८५९ ई० में स्थापित हुआ था। इसके बाद धीरे-धीरे विभिन्न संस्थानों में सरकारी सहायता-प्राप्त उच्च विद्यालय चालू किए गए।

बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के सभापति सर चार्ल्स वुड के १९ जुलाई, १८५७ ई० के शिक्षा-सम्बन्धी निर्देश (डिस्पैच) के अनुसार जनवरी १८५७ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। बिहार के लिए ९ जनवरी १८६३ ई०

एक स्मरणीय दिवस है क्योंकि उस तिथि को पटना कॉलेज खोला गया था। बिहार का सबसे पुराना तथा उच्च शिक्षा के लिए सबसे अच्छा महाविद्यालय होने की हैसियत से इस राज्य के आधुनिक युग के इतिहास में पटना कॉलेज का स्थान बहुत ऊँचा तथा गौरवपूर्ण है। वास्तव में आधुनिक बिहार का निर्माण बहुत हद तक पटना कॉलेज के उन पुराने छात्रों द्वारा हुआ है जिन्हें यहाँ के सामाजिक जीवन में बहुत ही माननीय स्थान प्राप्त हुए थे। इस महाविद्यालय के प्राध्यापकों में पंडित रामावतार शर्मा, प्रोफेसर यदुनाथ सरकार, प्रो० डी० एन० मल्लिक तथा प्रो० ज्योतिश्चन्द्र बनर्जी जैसे भारतीय विद्वान थे जिनके ज्ञान का यश दूर-दूर तक फैला हुआ था।

१९१७ ई० में पटना विश्वविद्यालय की स्थापना से बिहार में उच्च शिक्षा के विस्तार का एक नया अध्याय शुरू हुआ। पटना कॉलेज में कला-विभाग के स्नातकोत्तर विभाग १९१७ ई० में और भौतिक तथा रसायन विज्ञान के विभाग १९१९ में खोले गए। विज्ञान सम्बन्धी उच्च शिक्षा देने के लिए १९२७ ई० में एक स्वतन्त्र विद्यालय की हैसियत से पटना साइंस कॉलेज (विज्ञान महाविद्यालय) स्थापित हुआ।

आधुनिक भारत के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय विषय है स्त्री-शिक्षा का विकास और उसके फलस्वरूप महिलाओं की प्रगति। १९१४ ई० में बिहार-ओड़िसा की सरकार ने इस प्रान्त की स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल करने के लिए एक समिति बनाई थी। इस समिति ने महिलाओं में उच्च शिक्षा के विस्तार के लिए बाँकीपुर तथा कटक के कन्या-विद्यालयों में इंटरमिडिएट श्रेणियाँ खोलने की सिफारिश की थी। सरकार ने भी यह निर्णय किया था कि 'प्रत्येक कमिश्नरी में आर्थिक सुविधानुसार कम-से-कम एक-एक कन्या-महाविद्यालय अवश्य खोला जाय।' परन्तु इस ओर प्रगति बहुत ही धीमी थी। बिहार-ओड़िसा में शिक्षा पानेवाली लड़कियों की संख्या १९२७ ई० में केवल ०.७ प्रतिशत थी। हारटग कमिटी ने १९२९ ई० में बिहार का उल्लेख करते हुए लिखा है—"लगभग २५ लाख लड़कियों में, यहाँ के विद्यालयों में, शिक्षा पानेवाली कन्याओं की संख्या सिर्फ एक लाख सोलह हजार है। इनमें एक लाख दस हजार लड़कियाँ प्राथमिक स्तर के विद्यालयों में और वह भी निम्नतम वर्गों में पढ़ती हैं। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में यह प्रान्त बहुत ही पिछड़ा हुआ है और माध्यमिक स्तर से ऊपर इनी-गिनी कुछ हिन्दू तथा ईसाई महिलाएँ पाई जाती हैं। फिर भी अब जागरण के कुछ लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं।"

आज के बिहार में राष्ट्रीय आन्दोलनों तथा कुछ समाज-सुधारकों के प्रयास से कन्याओं की शिक्षा में काफी प्रगति हुई है। सह-शिक्षा की व्यवस्था के अतिरिक्त बहुत से महिला-महाविद्यालय खोले गए हैं और कन्या-विद्यालयों की संख्या बड़ी शीघ्रता के साथ बढ़ती जा रही है।

आधुनिक पटना में कई प्रमुख ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक संस्थान मौजूद हैं। इन संस्थानों में—बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना म्युजियम, खुदाबख्श (ओरियण्टल पब्लिक) पुस्तकालय, राधिका सिन्हा संस्थान तथा सिन्हा लाइब्रेरी उल्लेखनीय हैं। इनमें पहला संस्थान १९१५ ई० में बिहार-ओड़िसा शोध-संस्थान के नाम से उद्घाटित हुआ था और ओड़िसा के एक पृथक् प्रान्त घोषित होने के बाद से अपने वर्त्तमान नाम से प्रसिद्ध है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के बारे में लगातार शोधकार्य में निरत रहकर यह संस्थान उच्चकोटि की सेवा द्वारा भारतवर्ष की सभ्यता के बारे में मूल्यवान तथ्यों के आविष्कार तथा ज्ञान-भंडार की पूर्त्ति कर रहा है। इस समिति का मुखपत्र, बिहार रिसर्च सोसाइटी जरनल, का यश भारत के बाहर अन्य देशों में भी फैल गया है और इस संस्थान के पुस्तकालय में बहुत-सी प्राचीन पुस्तकें, पत्रिकाएँ तथा हस्तलिखित ग्रन्थ हैं, विशेषत: तिब्बती हस्तलिखित ग्रन्थ, जो महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा तिब्बत से लाए गए हैं। खुदाबख्श लाइब्रेरी में अरबी तथा फारसी के कुछ हस्तलिखित ग्रन्थों के बहुत ही अच्छे नमूने, सुन्दर तथा प्रशंसनीय हस्तलिपि (लिखावट) के उत्तम नमूने, कुछ सुन्दर ढंग से सुसज्जित तथा बहुमूल्य तथ्यों से पूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थ तो हैं ही, इनके अलावा इस पुस्तकालय में अरबी तथा फारसी में लिखे प्राच्य ज्ञान-विज्ञान संबंधी ऐसी पुस्तकें भी हैं जिनसे मुस्लिम तथा हिन्दू-मुस्लिम इतिहास और संस्कृति के बारे में नई बातें और मौलिक तथ्य जानने में सुविधा होती है। राधिका सिन्हा संस्थान दो तथ्यों के लिए बेजोड़ है— पहला तो यह कि स्वर्गीय डॉ० सच्चिदानन्द सिन्हा ने अपनी धर्मपत्नी के प्रति श्रद्धा के रूप में उसकी स्थापना की जिससे यह पति-पत्नी के गहरे प्रेम का निदर्शन स्वरूप है और दूसरी खूबी यह है कि इस संस्थान का आधार एक ऐसे महान् व्यक्ति के गम्भीर अध्ययन की पुस्तकों का संग्रह है जो अपने समय के उन इने-गिने उदार, विश्वप्रेमी प्रतिभाशाली पुरुषों में एक थे और जिन्होंने हमारे विशाल देश की प्रगति का पथ प्रशस्त किया था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वाधीन भारत में बिहार सांस्कृतिक पुनरुत्थान के सम्बन्ध में सचेत होकर आगे बढ़ रहा है। इस नव-जागरण के मूल्यवान

उदाहरण हैं—काशी प्रसाद जायसवाल शोध-संस्थान (के० पी० जायसवाल रिसर्च इंस्टिटिउट—जो बिहार रिसर्च सोसाइटी के साथ संबंधित है), नव नालन्दा महाबिहार, जो इतिहास प्रेमियों तथा इतिहास के छात्रों के लिए सचमुच एक तीर्थस्थान है; दरभंगा का मिथिला संस्कृत संस्थान तथा प्राकृत संस्थान जो पहले मुजफ्फरपुर में था और अब (१९६५ ई० से) वैशाली में है। पटना विश्वविद्यालय का शिक्षण विद्यालय के रूप में परिवर्तन बिहार के कुछ महान् व्यक्तियों तथा शिक्षकों के बहुत दिनों की चेष्टा की सार्थकता का द्योतक तथा बिहार के सुधी सज्जनों के अन्तर में जो सांस्कृतिक पुनरुत्थान की एक प्रेरणा है उसी का प्रतिफलन है। परन्तु किसी भी संस्था के बाहरी रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण है उसमें काम करनेवाले लोगों की आन्तरिकता जिस पर उसकी सफलता निर्भर करती है। बौद्धिक गणतन्त्रता की सफलता, उसका प्रसार तथा पूर्ण विकास तब तक सम्भव नहीं है जब तक उसके प्रत्येक सदस्य में विवेक-बुद्धि का अभाव रहेगा।

संगीत के क्षेत्र में बिहार की परम्परा का इतिहास गौरवमय है। बिहार में संगीत का प्रारम्भ वैदिक युग से ही हुआ था। पुराकाल के ऋषि-मुनियों—भृगु, गौतम तथा याज्ञवल्क्य—के आश्रम, जहाँ सामवैदिक संगीतों की रचना तथा आवृत्ति होती थी,—इस बिहार की पावन भूमि पर ही अवस्थित थे। याज्ञवल्क्य ने ही बताया था कि संगीत की साधना भी मोक्ष-लाभ का एक साधन है।

प्राचीन संस्कार के कारण ही हमारे बिहार में विभिन्न राग लोकप्रिय हैं तथा उनका प्रचलन है। भारतीय संगीत के क्षेत्र में बिहार के विभिन्न रागों में "नचारी", "लगनी", "फाग", "चैता" तथा "पूरबी" प्रसिद्ध हैं। नचारी राग के गीतों के जन्मदाता थे पन्द्रहवीं सदी के कवि विद्यापति। उन्होंने भगवान् शंकर की प्रार्थना में गीतों की रचना की थी। लोग इन्हीं प्रार्थना-गीतों को एक विशेष राग में गाने लगे और ये "नचारी" के नाम से प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय हुए। इस राग के संगीत का महत्त्व इतना अधिक था कि अबुल फजल भी इनके बारे में जानते थे और उन्होंने अपनी "आइन-ए-अकबरी" में इनका उल्लेख किया है। विद्यापति के समय से सारे बिहार में इन गीतों का प्रचार है और पर्व-त्योहार में ये गीत घर-घर में गाए जाते हैं। "लगनी"-गीत भी कवि विद्यापति की ही रचनाएँ हैं और उत्तर बिहार में विवाह के अवसर पर आज भी "लगनी" गाने गाए जाते हैं।

'फगुआ' या होली बिहार तथा उत्तर प्रदेश का विशेष महत्त्वपूर्ण त्योहार

हैं और फाग गाने यहाँ विशेष रूप से प्रचलित हैं। वर्त्तमान समय में फगुआ के गीतों की रचना के लिए बेतियाराज के जमीन्दार महाराजा नवल किशोर सिंह प्रसिद्ध हैं। इनके गाने उत्तर बिहार के पश्चिमी जिलों में बहुत ही जनप्रिय हैं। "फाग" की भाँति "चैता" भी बिहार की ही एक विशेष देन है। लोग फागुन के महीने में "फाग" गाते हैं और चैत के महीने में "चैता"। पटना तथा शाहाबाद जिलों के लोग तो इन गीतों को बहुत ही पसन्द करते हैं और चैत के महीने में रात-रात भर 'चैता' गाते रहते हैं।

सारन जिले को "पूरबी" गाने की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है। पहले इस राग के गीतों को "बिरहनी" कहा जाता था और इनका आशय मुख्यत: उन बिरहिनियों की दयनीय दशा का वर्णन था जिनके पति पूरब देश में, कलकत्ता या उसके समीप के दूसरे कहीं कारखानों में, कमाने के लिए जाते थे।

पटना, गया, शाहाबाद, दरभंगा, मुंगेर तथा भागलपुर ये सभी स्थान संगीतशास्त्र के उल्लेखनीय केन्द्र थे। पटना तो विशेष रूप से एक उल्लेखनीय केन्द्र इसलिए है कि १८१३ ई० में यहीं मशहूर गायक रजाशाह ने भारतीय राग-रागिनियों का पुन: विभाजन किया था और खासकर इसलिए कि इन्होंने एक नया यंत्र-संगीत चलाया था जिसे "ठाट" कहते हैं। उन्होंने गाने-बजाने के बारे में "नगमत असफी" नाम की किताब भी लिखी थी।

अट्ठारहवीं सदी में जो पर्यटक यूरोप से आए थे उनके भ्रमण-वृत्तान्तों से यह स्पष्ट है कि अट्ठारहवीं सदी में भारतवासियों के मनोरंजन के प्रधान साधन नृत्य-गीत ही थे। अट्ठारहवीं सदी के ऐसे एक लेखक क्राउफर्ड ने लिखा है—"वे सारी रात गाना गाने, नाचने तथा गाना सुनने में आनन्द से बिता देते हैं।" पर्व-त्योहारों तथा सामाजिक या धार्मिक कार्य-क्रमों में संगीत-सम्मेलन तथा लोकगीतों या लोकनृत्यों की व्यवस्था अनिवार्य थी। उस समय के यूरोप के यात्रियों के विवरणों में मनोरंजन के क्षेत्र में "नाच" की प्रधानता बताई गई है। भागलपुर जिले के उन्नीसवीं सदी के पूर्व के विवरण में बुकांनन ने लिखा है--"संगीत की तो भरमार है।"

अट्ठारहवीं सदी में नाटक तथा गुड़ियों के नाचों के प्रदर्शन भी लोगों के मनोरंजन के साधन थे। उस समय यूरोप से जो यात्री आए थे उनलोगों के वृत्तान्तों में नाटक करनेवालों, गाँवों में घूमनेवाले नौटंकी के अभिनेताओं तथा इधर-उधर घूमनेवाले अभिनेताओं का उल्लेख है और कहा गया है कि

इन लोगों का अभिनय देखने के लिए गाँवों में स्त्री, पुरुष और बूढ़े तथा बच्चे सब कोई रात-रात भर जागा करते थे। यात्रा तथा रामलीला के दल शिक्षा-प्रद तथा विमल आनन्द देनेवाले अभिनय प्रस्तुत किया करते थे।

संताल परगना, राँची, पलामू, हजारीबाग, मानभूम (जो वर्तमान समय में बिहार के धनबाद तथा पश्चिम बंगाल के पुरुलिया जिलों में बाँट दिया गया है) और सिहभूम के आदिवासियों के लोक-नृत्य तथा उनके पर्व-त्योहारों के लोकगीत प्रसिद्ध तथा प्रशंसनीय हैं। बिहार के अन्य लोगों की भाँति आदिवासी भी मुख्यतः खेती-गृहस्थी करते हैं और इसी कारण उनके सामाजिक जीवन तथा संगीत या नृत्यकला पर भी कृषि-कार्य के विभिन्न पहलुओं का पूरा प्रभाव है। जब वसन्त के समागम से अरण्य—सखुआ के जंगल—फूलों से लद जाते हैं और सारा जंगल उनकी सुगंध से सुवासित रहता है उस समय चैत-शुक्ला तृतीया तिथि को आदिवासियों का सबसे महत्त्वपूर्ण और मुख्य पर्व "सरहुल" मनाया जाता है। यह पर्व हिन्दुओं के "वसन्तोत्सव" से मिलता-जुलता है। इस समारोह में सभी आदिवासी—बूढ़े हों या जवान—आनन्द मनाते हैं। तीन दिनों तक यह पर्व आदिवासियों के जीवन को आनन्दमय बनाये रखता है। दो-तीन दिनों तक दिन तथा रातों में भी सभी काम बन्द रहते हैं और लगातार नाच-गाने होते रहते हैं। तीसरे दिन पूजा में व्यवहार किए गए सखुआ के फूलों का नाच-गानों के जुलूस के साथ गाँव के बाहर विसर्जन होता है।

अधिकतर आदिवासी गीतों के साथ-साथ नाच भी होता रहता है। हर आदिवासी गाँव में नाच के लिए—ज्यादातर किसी विशाल पेड़ के नीचे—जगह निर्दिष्ट रहती है। ऐसा सोचना गलत होगा कि केवल पर्व-त्योहारों के साथ ही आदिवासियों के नाच-गाने होते हैं। पर्व-त्योहारों के अतिरिक्त भी जब कभी उन्हें इच्छा होती है तो वे नाच-गाने का आयोजन करते हैं। आदिवासी-नृत्यों में कुछ तो सिर्फ मर्दों के लिए हैं, कुछ केवल औरतों के लिए और कुछ ऐसे हैं जिसमें मर्द और औरतें मिलजुल कर नाचते-गाते हैं।

आदिवासियों के नाच अपने-अपने गाँवों में सीमित रहते हैं। वे इन नाचों का न तो प्रदर्शन करते हैं और न इन नृत्य-गीतों से पैसे ही कमाना चाहते हैं। नृत्य-गीत तो आदिवासियों के जीवन का मुख्य अंग है और उनके नाच-गाने अपने आनन्द के लिए ही होते हैं। गाना संतालों का जन्मजात संस्कार-सा है और उनके जीवन के हर पहलू में, उनके व्यक्तिगत जीवन के हर स्तर पर, गाना अनिवार्य है। किसी शिशु के जन्म लेते ही सारा गाँव संगीत से झंकृत

हो उठता है। संताल-दम्पति के विवाह के समय तो गाने-से सारा गाँव गूंजने लगता है और संतालों की मृत्यु के अवसर पर भी शोक-गीत सबके हृदय में करुण राग का संचार करता है। वास्तव में संतालों का जीवन सगीत से ओत-प्रोत है।

आदिवासियों के गीत भी कई प्रकार के हैं और उनमें से कुछ गीत ऐसे हैं जो कि बाजों तथा नाच के साथ ही गाए जाते हैं। इन गीतों के रचयिताओं के नाम तो अज्ञात हैं परन्तु इनमें से कुछ गाने बहुत ही पुराने मालूम पड़ते हैं। ये गाने श्रुतियों की तरह परम्परा से गाए जा रहे हैं।

प्राकृतिक सौंदर्य और सरलता के बीच जीवन बिताने के कारण आदि-वासियों के गीत प्राकृतिक परिवेश के सौंदर्य से प्राप्त उमंग की भावना से भर-पूर रहते हैं। इनके गीतों में प्रेम की भावना भी प्रेरणा प्रदान करती है। इन गीतों को जब वे सुर और ताल के साथ गाते हैं तो सुननेवाले मुग्ध हो जाते हैं।

आदिवासियों के नृत्य बहुत तरह के हैं। इनमें से हरेक में उनके सरल प्राकृतिक जीवन की झाँकी रहने के कारण ये नृत्य रोचक तथा सुखद होते हैं। संतालों के तथा सभी आदिवासियों के सामाजिक जीवन पर नृत्य का बहुत बड़ा प्रभाव है। वस्तुतः नृत्य उनके जीवन का एक मुख्य अंग है।

पारिभाषिक शब्द-सूची

अमर	Immortal
अवस्थित	Situated
आध्यात्मिक	Spiritual
कायमी बन्दोबस्ती	Permanent Settlement
जनतंत्र	Democracy
धार्मिक	Religious
निर्देश	Despatch
पुरातात्त्विक	Archaeological
प्रतिष्ठापक	Founder
मकबरा	Mausoleum
महत्त्वपूर्ण	Important
योगदान	Contribution
राष्ट्रीय	National
लोकप्रिय, जनप्रिय	Popular
शिष्य	Disciple
समसामयिक	Contemporary
सहशिक्षा	Co-education
साम्राज्य	Empire
सारगर्भित	Significant
सुधारक	Reformer
सौंदर्य ज्ञान	Aesthetic Sense
स्थापत्य	Architecture
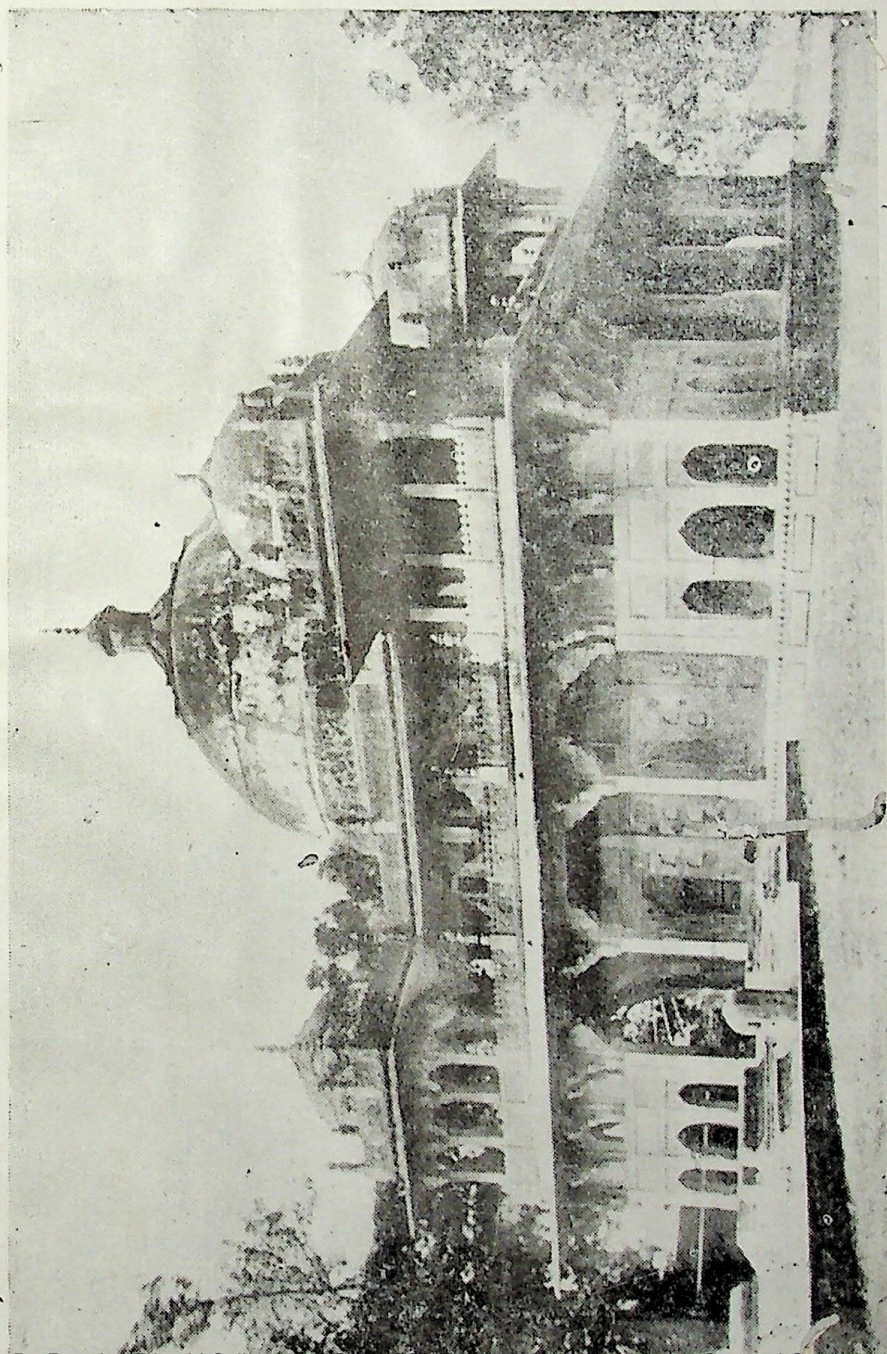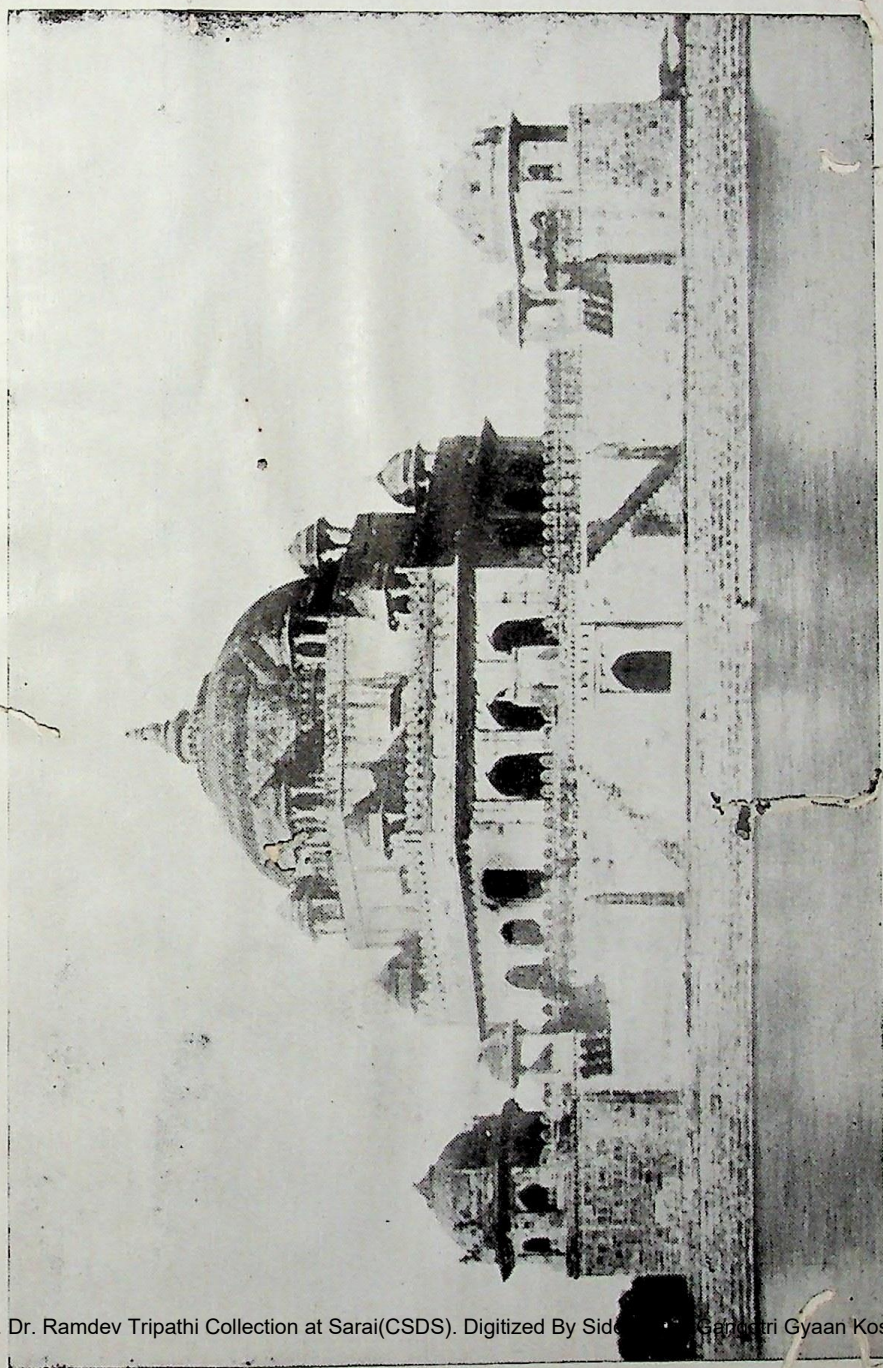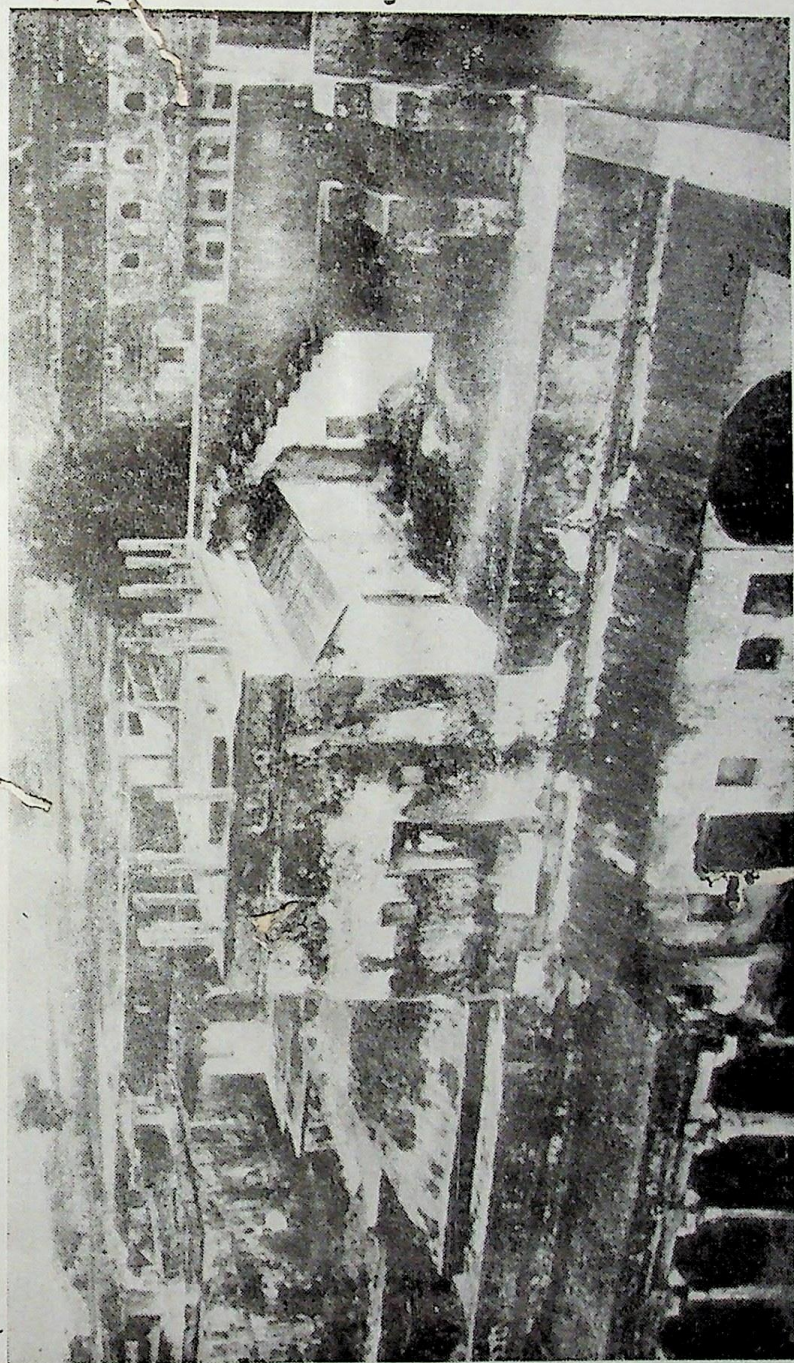
मानसिह का राजप्रसाद (भोतर का दृश्य), रोहतास गढ़ (शाहाबाद)

अशोक स्तम्भ, लौरियानन्दन गढ़, चम्पारण
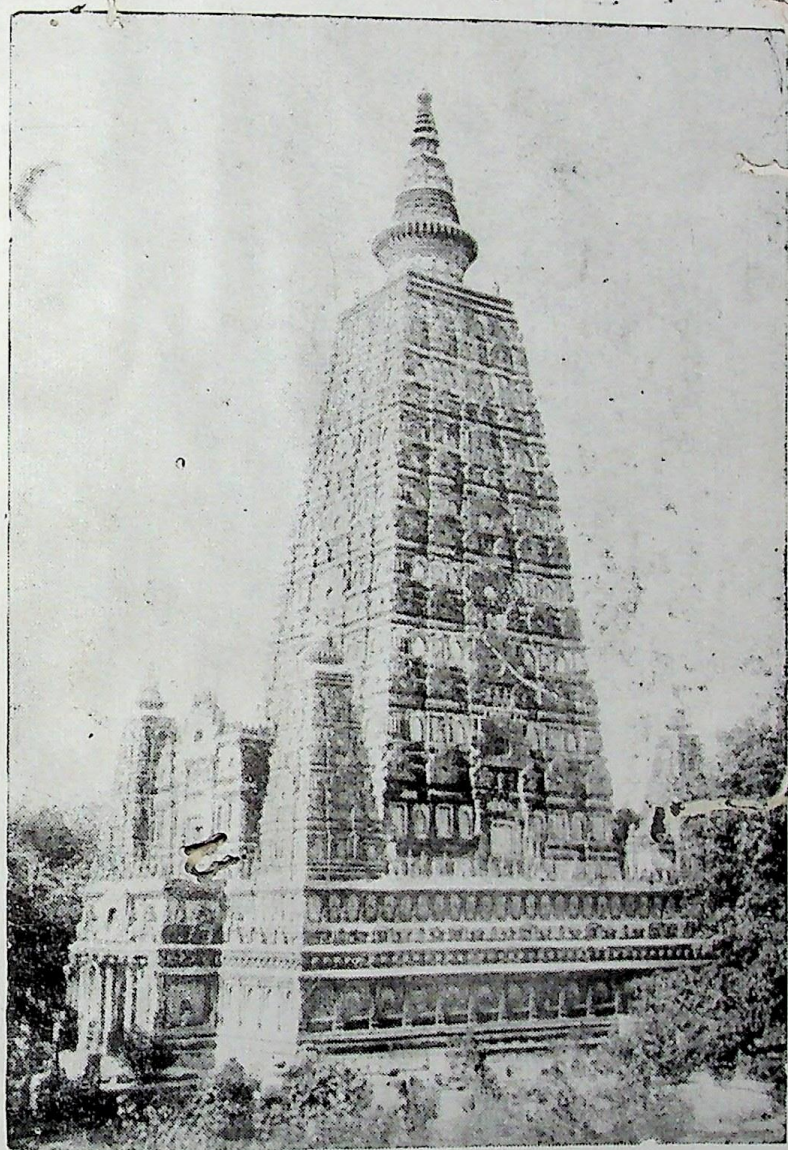
बोधगया मंदिर

बैठी हुई नारी की मूर्त्ति (तारा), नालन्दा (पटना जिला)

बैठी मुद्रा में अवलोकितेश्वर की मूर्त्ति, नालन्द (पटना जिला)

मौर्यकालीन स्तंभ युक्त दालान. कुम्हरार, पटना

मठ सं० १, नालन्दा (पटना जिला)